जैन धर्म और तेरहपंथ

लेखक

मुनि सुशील शास्त्री "भास्कर"।

अर्हन्

जैन धर्म और तेरहपंथ

"सव्व जग्ग जीव रक्खण दयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय" —"प्रश्न व्याकरण सूत्र" संवर द्वार

लेखक

स्थविर पद विभूषित श्री स्वामी १००८ श्री कुन्दन लाल जी महाराज तदाज्ञावर्ती पण्डित रत्न श्री १००८ श्री छोटेलाल जी महाराज तदन्तेवासी मुनि सुशील शास्त्री
"भास्कर"

जगराव, नवम्बर १६४८

मूल्य २)

प्रकाशक
एम० एम० श्री रूपचन्द जैन,
कुमार सभा, जगराव।

१—जिन महानुभावों ने इस पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक सहायता दी है उनका हार्दिक धन्यवाद।

२—प्रेस तथा हमारी असावधानी से जन्य अशुद्धियों के लिये क्षमा —"प्रकाशक"

मुद्रक
बालकृष्ण एम० ए०,
युगान्तर प्रकाशन लिमिटेड,
मोरीगेट, देहली।

आत्म निवेदन :—
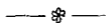
"आज का युग क्रान्ति का युग है"। यह उपदेश नहीं चेतावनी है, आप आज के युग की आखों से देखिए, अठारहवा युग बीते दो शताब्दी हो चुकी है। आज का धरातल आलोचना के झूले मे झूल रहा है। प्रत्येक समाज व धर्म बिना आलोचना की कसौटी पर कसे, माना नहीं जा सकता। मुझे आज से चार वर्ष पूर्व "तेरहपन्थ" का कुछ भी ज्ञान नहीं था। लेकिन सन् १९४९ के चातुर्मास ने इस अटपटे पथ का गहरा परिचय पाने का अवसर दिया। जब कि चातुर्मास स्थित सतियो की रागद्वेष रहित स्थानकवासी साधुओ की घोर निन्दा, और सार्वजनीन भाषण साधु ने वस्त्र नहीं धोने, साधु ने मकान पर टट्टी नही जाना आदि धर्म के नाम से राष्ट्र सेवा, जीवों की सहायता, दरिद्रो को दान, और दु खित पीडित हो रहे जीव की रक्षा मे महापाप कहकर सार्वभौमिक जैनधर्म का प्रचार देखने मे आया।

मैंने इन तरह पन्थियो के मान्य ग्रन्थो का अध्ययन किया, किन्तु जब मुझे जीतमल कृत "भिक्षुजसरसायण" पुस्तक पढने को मिली (भीषण जीवन) तो मेरा हृदय पढकर सन्न सा रह गया, भीषण जी की अबोधता पर हृदय द्रवित हो गया और मुझे ऐसा

भान हुआ कि 'भीषण जी की आत्मा प्रतिशोध (प्रायश्चित) के लिए लालायित है और मुझे प्रेरणा दे रही है। कि 'सुशील! क्रान्ति की अमिट आग भड़का दो, जिससे मेरे फैलाए मिथ्यात्व का अन्धकार समाप्त हो जाए"। मैं तन से लगातार उस प्रेरणा को कृतार्थ करने में भरसक प्रयत्न कर रहा हूं, मुझे यह मनन है, मैं कहता हूं कि तेरापंथियो! शास्त्र का पाठ कर लो या करवा दो बन जाओ या बना लो, एक बात होकर ही रहेगी। अत भीषण जी का यथार्थ जीवन, सिद्धान्त सन्तुलन और सांस्कृतिक मतभेद दिखाने के लिए "जैनधर्म और तेरहपथ पुस्तक का संकलन किया गया। जो मेरा सब से प्रथम लेखन कार्य है। त्रुटिएँ रहनी नैसर्गिक ही हैं किन्तु मैं सूचना देने वाले और सहायकों का तथा उपाध्याय श्री प्रेमचन्द्र जी महाराज का आभारी हूं और रहूंगा, सहयोगियों का धन्यवाद करूं यह मुझे पसन्द नहीं।

आपका —

मुनि सुशील शास्त्री, भास्कर।

महान् व्याख्यातृत्व, सफल व्यक्तित्व, आर्ष तेजस्त्व
के प्रतीक उपाध्याय जैनधर्म भूषण

श्री स्वामी प्रेमचन्द्र जी महाराज

के कर कमलों में
सहर्ष समर्पण

आप का शिशु—

मुनि सुशील शास्त्री

भास्कर ।

सम्मतियाँ

जैनधर्म दिवाकर जैनागमरत्नाकर साहित्य रत्न जैनाचार्य
श्री आत्माराम जी महाराज लुधियाना से—

आपकी लिखी हुई पुस्तक जैनधर्म और तेरहपथ, मैंने मुनि सुरूपचन्द जी से सुनी पुस्तक उपादेय है, आप का प्रयास परम प्रशंसनीय है।

———

व्याख्यान वाचस्पति, जैनधर्म भूषण, उपाध्याय
श्री प्रेमचन्द्र जी महाराज पटियाला से—

आपकी जैनधर्म और तेरहपथ, नाम की पुस्तक बड़ी खोज के साथ लिखी गई है, जो कुपथ में भटकने वाली जनता के लिए पथ प्रदर्शक होगी। अतः पुस्तक प्रकाशनीय है।

———

विषय-सूची

—०—

"भीखन परिचय"

अथवा

"तेरह पथ मत प्रवर्तक श्री भीखनचन्दजी के विषय मे यत्किंचित्"

मारवाड देश मे "कण्टालिया" नामक ग्राम के रहने वाले ओसवाल "सकलेचा" गोत्रीय भीखनचन्द नामक एक व्यक्ति हो चुके हैं। उन्होंने सवत् "१८०८" मे बाईस सम्प्रदाय के आचार्य श्री **रघुनाथ** जी महाराज से दीक्षा ग्रहण की। पश्चात् शहर **"मेरता"** मे परम-पूज्य रघुनाथ जी महाराज **भीखन** जी को **"भगवती"** सूत्र पढान लगे। परन्तु भीखन जी को कुछ बातें जँचती और कुछ बातें न जॅचती थीं। उनकी यह चेष्टा श्रावक **समर्थमल** धाडीवाल ने देखी। उक्त श्रावक ने पूज्य श्री जी महाराज से कहा कि—आप भीखन जी को **भगवती** सूत्र पढाकर विषधर सर्प को दूध पिलाकर पुष्ट कर रहे हैं। यही भीखन आगे चल कर निन्हव हागा और उत्सूत्र परूपणा करेगा।

(सद्धर्म मण्डन से उद्धृत)

(उक्त श्रावक की यह भविष्य वाणी केवल पाठकों को सत्यता परखने के लिये दे दी गई है क्योंकि—गाव का पता रूडियों से ही लग जाया करता है)

पूज्य श्री जी ने इस बात की ओर कोई चिन्ता न की वे फिर भी भीखन जी को पढाते ही चले गये। गुरुदेव का हृदय सात्त्विक

सद्भावना से ओत प्रोत था। वातावरण, उद्देश्य, भविष्य और सद्विचारों का प्रबल संघर्ष था। गुरुदेव की किंचित चिन्तातुर आत्मा श्रावक की भविष्य वाणी पर आ-आकर टकराती अवश्य थी, परन्तु सद्विचारों का तीव्र प्रवाह निराशा को आशा में परिवर्तित कर दिया करता था। वे सोच लिया करते थे कि—भीखन अभी शास्त्रीय ज्ञान से एक दम अनभिज्ञ और अनुभव से शून्य है, अतः सद् ज्ञान होने पर आर्हत पथ का स्वयमेव पथिक बन जायगा। परन्तु भीखन तो—"मर्ज बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की" इस लोकोक्ति का सजीव प्रमाण बनना चाहता था।

गुरुदेव साद्वाद के गूढ़ रहस्य समझाते, पग पग पर अपना अमूल्य समय देकर शंका समाधान कराते, किन्तु यह सब अमृतोपम शास्त्रीय ज्ञान सर्प दुग्धवत् हलाहल विष की गाठ बन जाता। "पय पानं भुजंगानां केवल विष वर्धनम्" अर्थात्—साप को दूध पिलाना केवल जहर ही बढ़ाना है। आखिर यह जैन धर्म के व्यापक सिद्धान्तों के विपरीत संवत् १८१४ में गुरुदेव के समक्ष ही अवर्णवाद बोलने लग पड़ा। जैसे कि (दीन अनाथ लूले लँगड़े आदि को सहायतार्थ भोजनादि देना एकान्त पाप है, और जो इसे पुण्य बताता है वह भी एकान्त पापी है) इत्यादि।

गुरुदेव इस प्रकार धर्म पर होते हुए कुठाराघात को न देख सके। शास्त्रों का विरोध, दया का नाश करने पर उतारू हुए भीखन को बहुत कुछ समझाने लगे, जब यह किसी भी प्रकार से

मानता हुआ दिखाई न दिया तो अन्त मे उन्होंने उसका बहिष्कार करना ही उचित समझा। क्योंकि वे हमारी तरह आख मूदना नही जानते थे। वह इस बात का बुरा समझते थे कि आततायी हम पर, हमारे प्यारे धर्म पर आक्रमण करे, शासन नायक भगवान् **महावीर** पर कलङ्क लगाये, उनके अवर्णवाद बोले और हम चुपचाप भयङ्कर अपमान को सहते रहें। वे उपाय करते थे और उसका पूरा प्रत्युत्तर देते थे। जब उन्होंने समझ लिया कि यह सुधरने का नहीं तब उन्होंने आज्ञा दे दी—या तो श्रद्धा ठीक करो नही तो इसी समय सम्प्रदाय से बाहर हो जाओ। यह कडा उपाय पूज्य जी ने तीसरी बार बर्ता था। क्योंकि इससे दो बार पहले भी यह विरोध कर चुका था। सम्प्रदाय में फूट डाल देना तो इसके बाये हाथ का खेल था। किन्तु जब जब गुरुदेव इसे धमकाते तो उसी समय दण्ड प्रायश्चित्त ले क्षमा माग लेता था। गुरुदेव सरलता से इसे क्षमा भी कर देते थे। यह निर्भय होकर अपनी पार्टी बनाने लग जाता था। अन्तत इसने तेरह साधुओं की एक मण्डली बना ही ली। आचार्य श्री जी ने जब इसे निकाला तो इसकी मण्डली भी तलमलाने लगी। गुरु महाराज ने इनको बहुत कुछ समझाया किन्तु वे समझने वाले कब थे, वहा तो समझाना बुझाना शान्ति के स्थान पर आग भडकाने का काम करता था। कहा भी है—

उपदेशोहि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।

अर्थात्—"मूर्खों को उपदेश देना क्रोध को भडकाना है" अत

उनका सब प्रयत्न विफल गया। गुरुदेव ने सोचा कि—शास्त्र में भी यही लिखा है कि—कुगुरु के बहकाए हुए को समझाना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव होता है। अतः इनको भी सम्प्रदाय से बहिष्कृत करना ही उचित होगा। तब आचार्य श्री जी ने आज्ञा दी जितने भी साधु अशुद्ध श्रद्धा वाले हैं वे सब सम्प्रदाय से बाहर हो जायें। आचार्य श्री जी की जब यह सिंह गर्जना सुनी तो वे सब साधु दुम दबाकर भाग निकले।

यदि इनमें आत्म शक्ति थी, चारित्र बल था, शास्त्र श्रद्धा थी तो इनका प्रथम कर्तव्य था कि गुरुदेव की आज्ञा में रहकर कुछ बनकर दिखाते, बनाते आदर्श। परन्तु इन्होंने तो सेवा लाभ बता २ कर संसार को लूटना था। भगवान् को चूका (पापी रागी) कह २ कर दुनिया की आंखों में धूल झोंकना था। सदाचार के नाम पर व्यभिचार का नग्न नाच नचाना था।

अब वे तेरह ही साधु इकट्ठे होकर किसी की दुकान पर जा ठहरे। दिल में एक नूतन पंथ बनाने का जनून सवार था। कुछ पाप नियम घड़ भी लिये थे। कुछ शेष भी थे, परन्तु अभी तक पन्थ के नाम का निश्चय भी नहीं हो सका था। अतः पथ प्रणाली निर्माणार्थ बड़ी चिन्ता की जा रही थी। जब यह पंथ था, धर्म नहीं। पथ बनाने वालों का ध्यान विशेष कर जनता का फँसाने का होता है, फँसाने के लिये फूट डाल देना, कपट करना, ढोंग रचना आदि सब आवश्यक से हो जाते हैं। इतने में वहां एक सिरामी आ पहुँचा।

साधुओं को देखकर वह बोला—महाराज! उदास कैसे बैठे हो, क्या कारण है?

भीखन—भाई क्या बताए, गुरु ने हमें सम्प्रदाय से बाहर कर दिया है। हम नया पथ बनाना चाहते हैं, पर अभी तक पथ का नामकरण सस्कार नहीं कर सके हैं, बस इसी बात की चिन्ता है।

मिरासी—ओह! नाम रखना क्या कठिन है, बताओ कितने साधु हो?

भीखन—हम तेरह साधु हैं, नाम अच्छा सा बताना।

मिरासी—सुनिये —

आप आपको गिल्ला करे, ते आपका मत।
देखोरे शहर के लोगा, तेरा पथी तत॥

भीखन ने जब अपने पथ का नाम तेरा पथ सुना तो बडा हर्षित हुआ। यत "तेरा" शब्द के दो अर्थ निकलते हैं —एक तो तेरा साधुओं का पथ, दूसरा —भगवान्! तेरा पथ। किन्तु दूसरा अर्थ कल्पित है क्योंकि —बागड देश मे तेरा शब्द कहने मे नहीं आता। वहा ता 'थारा' कहा जाता है। यदि द्वितीय अर्थ को समक्ष रखकर नामकरण किया जाता तो अवश्यमेव "थारा पथ" नाम रखा जाता। वहा "तेरह साधुओ का निर्मित पथ" ही अर्थ रख कर नाम कल्पित किया गया है। भीखन को नेता बना दिया गया। वे तेरह ही भेषधारी जहा पर स्थानक वासी साधुओं का गमनागमन नहीं था, उसी तरफ चल पडे।

भोली जनता पर खूब आतङ्क जमाया। संसार जानता है कि —धूक भास्कर के उदय होने पर कौनसा स्थान छूटता है ? जहा किरणों का गमनागमन नहीं हुआ करता। अन्धकार व्याप्त होता है।

अब वे तेरह ही अपने मुख्य नियम बनाने लग पडे।

भीखन —सर्व प्रथम वेश मे अवश्य विचित्रता आनी चाहिये। जैसे कि —मुख पत्ती कम चौड़ी करलें, और लम्बी अधिक यदि कोई पूछे कि ऐसा क्यों किया तो उत्तर देना चाहिये, वायु काय की हिंसा से अपनी आत्मा बचाने के लिये। उत्तर है भी ठीक कि —मुख पत्ती से ता वायु काय की हिंसा होती है क्योंकि —वह एक अगुल स अधिक चौड़ी होती है। किन्तु ये गजों ही लम्बे और चौड़े चोल पट्टे तथा चादरें वायु से फट-फट करते हैं, उन्हें भी तो छोटे कर लेना चाहिये था केवल लंगोटी ही बाध लेनी चाहिये थी। किन्तु तप, त्याग का तो यहा नाम भी नहीं था, यहा तो भेष बदलना ही उद्देश्य था। जैनाचार्यों ने मुख पत्ती का विधान इस प्रकार किया है —

एक बीसं-गुलायाय, सोलसंगुल विच्छिएणो।
चउक्कार संजुयाय, मुहपोती एरिसा हाई॥

'आवश्यक चूर्णी"

अर्थात —२१ अंगुल लम्बे और १६ अंगुल चौड़े वस्त्र की चतुष्कोण मुखपत्ती होनी चाहिये।

कुछ मनुष्य मुखपत्ती को मुह पर बाधना शास्त्र विरुद्ध सम-

भते हैं उन्हें श्री आवश्यक सूत्र चूर्णी का यह पाठ ध्यान से पढ लेना चाहिये —

मुहणतिगण करणट्ठियाए, विणबधइ जो को वि सावगो।
धम्मकिरिय करेइ तस्स एकारस्स, सामाइयस्सणं पायच्छित्त भवइ ॥

अर्थात् —जो कोई श्रावक मुखपत्ती मुह पर बाधे बिना सामायिक करे उसे ११ सामायिकों का दण्ड आता है।

दूसरी बात हमे दया के विषय मे समझ लेनी चाहिये क्योंकि हमारा सारा विरोध दया के विषय मे ही हुआ है। एक दिन की बात है कि —हम सब जब आचार्य श्री जी के साथ इकट्ठे ही ठहरे हुए थे, तो शाम के समय शोच निवृत्ति के लिये सब साधु आचार्य जी समेत बाहर चले गये। जाते समय मुझे आचार्य जी कह गये कि —भीखन! इधर इस मकान मे कारण वश कुत्ती ने बच्चे दे दिये हैं, अत ख्याल रखना, कभी कोई कुत्ती खा न जाय, मैंने उस समय तो हा करदी और वे सब बाहर चले गये। पीछे से एक कुत्ती आई और उन बच्चों का गर्दन से पकड पकड कर भूमि पर पटकने लगी। कभी उनके मास को नोचती, कभी खून पीती "अन्तत कुछ देर मे वे बच्चे न उठने वाली नींद मे सुला दिये गये। मैं बैठा २ तमाशा देखता रहा।" मैंने हटाने में अन्तराय समझ कर नहीं हटाया [ठीक भी है कई मनुष्यों के हृदय स्थल पर पत्थर का टुकड़ा निहित हुआ करता है उन्हें दया कहा ?] गुरु महाराज आये, उन मरे हुए बच्चों को देख कर बडे

आश्चार्य चकित हुए, इन्होंने पूछा कि —भीखन ! तू कहाँ गया हुआ था ?

भीखन —महाराज ! मैं यहां ही था।

आचार्य श्री जी —तो तूने कुत्ती क्यों न हटाई ये बेचारे बच्चे तो किसी कुत्ती के ही मारे हुए जान पड़ते हैं।

भीखन —महाराज ! मैं जीवों को बचाने के लिये साधु नहीं बना हू। गुरु जी कहने लगे कि —दया करना तो तेरा कर्तव्य ही था "मैंने कहा कि —महाराज ! जीव बचाना पाप है" जो जीव बचाया जाता है उस जीव के द्वारा किये सब पाप बचाने वाले को लगते हैं। गुरु महाराज ने बहुत कुछ समझाया, परन्तु मैं अपने हठ पर अड़ा रहा। अत दूसरा नियम यह होना चाहिये कि —अनुकम्पा भाव से भी किसी प्राणी की रक्षा करना एकान्त पाप है।

जब यह दूसरा नियम सब ने सुना तो इनमें ही विराजमान दयार्द्रहृदय मुनि रूपचन्द जी इस बात को सुनकर बड़े दु खित हुए "धर्मात्मा के हृदय की उत्तम अनुकम्पा का गला घोट दिया गया, यह देखकर उनकी आखों म आसू उछल पड़े, वे भगवान् की करुणा मन्दाकिनी में बह निकले।

एक ब्राह्मण बालक तेजोलेश्या म जल रहा है, चारा रहा है, भगवान् ! बचाओ मैं मरा "भगवान् उस पर शीतलेश्या छोड़कर उसे बचाते हैं" यदि ऐसे समय में भीखन जैसा कोई नराधम

होता तो क्या करता ? मौन। वे तो चतुर्ज्ञान धारी स्वय भगवान् महावीर थे।

ओ ! इतना अकाट्य प्रमाण कहा छुपाया जा सकता है उन्होंने साफ कह दिया कि भीखन ! हमारा पथ कभी भी सूत्रानुसार नहीं चल सकता, और फिर भगवान् महावीर की आड मे। वे तो स्वयं परम दयालु थे जब वे स्वय अनुकम्पा करके एक ब्राह्मण बालक की रक्षा करते हैं तो कैसे हम अनुकम्पा से प्राणी की रक्षा करने मे पाप कह देंगे। मण्डली नायक भीखन बोला, अरे रूपचन्द ! तुझे पता नहीं कि —वह विप्रवटु उनका शिष्य था, शिष्य पर उन्हें मोह राग आगया, मोह से बचा लिया अनुकम्पा से नहीं। रूपचन्द —आप सूत्र विरुद्ध न बोलें, पाठ पढ़ें ? देखिये भगवान् क्या कहते हैं —

अह गोयमा ! गोशालस्स मखलिपुत्तस्स अणुकम्पणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिणतेयलेस्सा तेय पडिसाहरणट्ठयाए एत्थणं अन्तरा अहमीयलिय तेयलस्स निस्सरामि। जाए सा मम सीयलियाए तेय लेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिण तेयलेस्सा पडिहया। (भगवती सूत्र, शतक १५)

अर्थात् —हे गौतम ! उस समय गोशालक मखलिपुत्र पर अनुकम्पा के लिये उस पर आती हुई तेजोलेश्या के निवारणार्थ, मैंने शीतललेश्या छोडी। मेरी शीतललेश्या से वैश्यायन बाल तपस्वी की उष्ण तेजोलेश्या प्रतिहत (वापिस) हो गई।

भीखन —माना कि —अनुकम्पा से बचाया, परन्तु यह तो

बताया कि तेजोलेश्या के जीव शीतललेश्या द्वारा मरे तो होंगे ही। तभी तेजालेश्या प्रतिहत हुई। साधु ने त्रस और स्थावर जीव की हिंसा करनी नहीं, भगवान् ने करी इसलिये उन्होंने पाप किया।

रूपचन्द —लज्जा की बात है कि आपको इतना भी पता नहीं कि -तेजोलेश्या के पुद्गल और शीतललेश्या के परमाणु अचित्त होते हैं। जैसे सूर्य की किरणें अचित्त होती हैं। किन्तु जहा भी वे जाती हैं वहा ही उष्णता फैलाती जाती हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा की शीतल किरणें अचित्त होती हुई भी शीतल करती जाती है।

भीखन —मुझे ऐसे प्रमाण नहीं चाहिए कि सूर्य की किरणें अगर अचित्त हैं तो तैजस आग भी अचित्त है। हा! यदि कोई मूलपाठ का प्रमाण है तो बताइये ? —

रूपचन्द —हा मूल पाठ भी है, देखिये —

कयरेणं भंते! अचित्तावि पोग्गला उभासन्ति जाव पभासन्ति ? कालोदाई! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलस्सा निसट्ठा समाणी दूरं गता दूर निपत्तइ देसगता देसं निपत्तइ, जहि जहि च णं सा निपत्तइ, तहि तहि च णं ते अचित्ता वि पोग्गला उभासन्ति जाव पभासन्ति। (भगवती सूत्र, शतक ७ उ० १०)

अर्थ —भगवान! कौन से अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं। १—हे कालोदायिन्! क्रोधित हुए अणगार (साधु) से फैंकी हुई तेजालेश्या दूर तक फैंकने से दूर और निकट में फैंकने से निकट

जाकर पडती हैं। जहा २ वह तेजोलेश्या पडती है वहा २ उसके अचित्त पुद्गल-प्रकाश करते हैं।

इस प्रकार भगवती सूत्र मे तेजोलेश्या के पुद्गलों को अचित्त कहा है। अग्नि के सचित्त पुद्गलों का दृष्टान्त देकर हिंसा कहना और पाप बताना आदि सूत्र विरुद्ध नहीं बोलना चाहिये।

भीखन —गौतम जी चार ज्ञान के धारी १४ पूर्व के पाठी आनन्द गाथापति के घर चूक गये थे, तो भगवान् भी इसी प्रकार चूक गये होंगे।

रूपचन्द —गौतम जी चूकने के समय भी चार ज्ञान के धारी थे, यदि इस बात का मूल प्रमाण है तो दिखलाइये।

भीखन —इस का तो कोई मूल प्रमाण नहीं है।

रूपचन्द —बिना प्रमाण के तो यह बात मानी नहीं जा सकती।

भीखन —अच्छा फिर भी भगवान् ने गोशाले जैसे—निन्हव को बचाकर दोष सेवन किया। अवश्य किया।

रूपचन्द —अगर हठ ही करना हो तो उसका कोई उपचार नहीं। क्योंकि मूर्खों के लिये बेशर्मी और समझदारों के लिये प्रमाण होता है। देखिये मूलपाठ —

कषाय कुसीलेपुच्छा ? गोयमा ! णो पडिसेविए होज्जा, अपडिसेविए होज्जा। (भगवती सूत्र)

अर्थ —वीतराग, छद्मस्थ कषाय कुशील निर्ग्रन्थ होते हैं, अत

वे मूल गुण पाच महाव्रत और उत्तर गुण दशविध प्रत्याख्यान मे कोई भी दोष नही लगाते।

अगर अब भी सशय शेष है तो नितान्त अज्ञानता के सिवा और कुछ नहीं।

भीखन —तो क्या भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था मे कदाचित् भी कषाय का सेवन नहीं किया? अगर आपके पास ऐसा मूल पाठ है तो बतलाइये?

रूपचन्द —आचारांग सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि भगवान ने त्रयोदश वर्ष में किञ्चिन्मात्र भी प्रमाद सेवन नहीं किया। यह पाठ देखिये —

एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसी पतेरस वासे।
राइं दिवंपि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति॥
(आचारांग सूत्र अ० ६, उ० २)

अर्थ —इस प्रकार विचरते हुए भगवान् महावीर तेरह वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था मे रहे। (सर्वसमास्य १२ वर्ष ५ मास १५ दिन) इतने समय मे भगवान् ने किंचिन्मात्र भी प्रमाद सेवन नहीं किया, अहोरात्र सदैव यत्ना युक्त समाधि द्वारा ध्यान मग्न रहे।

दूसरा पाठ जिसमें बताया गया है कि भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था मे स्वल्प भी पाप नहीं किया यह इस प्रकार है —

"णच्चाणं से महावीरेणा णिव पावगं सयम कासी।
अन्ने हिं वाकारित्था कन्तं पि नाणु जाणित्था॥
(आचारांग सूत्र अ० ६ उ० ४)

अर्थ —भगवान् महावीर स्वामी ने सयम लेने पर न तो स्वय पाप किया और न दूसरों से करवाया और न ही करते हुए को अच्छा जाना ।

तीसरा पाठ जिसमे दिखाया गया है कि भगवान् ने छद्मस्थ अवस्था मे कभी भी राग और द्वेष रूप प्रमाद का सेवन नहीं किया —

अकसाई विगय गेहीय, सद्दरूवेसु अमुच्छिए झाई ।
छउमत्थेऽवि परक्कममाणो, नापमाय सयम विकुव्वित्था ॥

[आचाराङ्ग सूत्र, अ० ६ उ० ४]

अर्थ —भगवान् महावीर अकषायी थे । क्योंकि —कषाय उदय होने से किसी पर भी अपनी भृकुटी टेढी नहीं की । भगवान् महावीर ने अनुकूल शब्दों पर राग और प्रतिकूल शब्दों मे द्वेप नहीं किया । बेशक भगवान् छद्मस्थ अवस्था मे ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से युक्त थे, किन्तु सयम लेकर उन्होंने एक बार भी प्रमाद और रागद्वेपादि कपाय का सेवन नहीं किया ।

क्यो अब तो मानेंगे ? कि भगवान् ने कोई दोप सेवन नहीं किया और न ही भगवान् चूके ।

भीखन —(तमतमा कर) यह तो गणधरों ने गुण गाये हैं, अवगुण छिपा लिये हैं ।

उनकी धृष्टता को देखकर रूपचन्द जी चौंक पडे और बोले क्या तुम्हे ऐस शब्द कहते लज्जा नहीं आती ? देखो न आचाराग सूत्र के आदि मे सुधर्मा स्वामी कहते हैं —

सुय मे आउ सतेणं भगवया एव मक्खाई ॥

हे आयुष्मन् ? (जम्बु !) भगवान् ने जैसा कहा था वैसा ही मैंने उनसे सुना है। तथा इस नरमे अध्ययन की प्रतिज्ञा करते हुए सुधर्मा स्वामी कहते हैं —

"अहा सुय वइस्सामि"

"जैसा मैंने भगवान से सुना है वैसे ही कहूँगा"

क्या अब भी आप बाप की लकीर को पीटते रहेंगे जो होना था सो हो लिया। गुरु के साथ हठ करना अच्छा नहीं होता। अगर आपका गुरु के साथ विरोध है तो धर्म के साथ तो नहीं है। हमें धर्म के विरुद्ध तो कुछ भी नहीं करना चाहिये। विशेष कर शासन नायक "जिनमे अणुमात्र भी राग द्वेष नहीं था उनमें भी हठ वश दोष साबित करना मोहनीय कर्म को बांधना है। हठ मे आकर अमूल्य जीवन क्यों खुवो रहे हो। कुछ तो पक्षान्धता दूर करो, कुछ तो ठण्डे दिल, दिमाग से विचार करो ? इस प्रकार रूपचन्द जी ने भीखन जी को बहुत कुछ समझाया। पर हठी भीखन ने एक भी न मानी। जिस प्रकार ऊँट के चर्म से बने हुए कुप्पे में तुम कितना भी तेल क्यों न डालो, पर वह आगे से भी कठोर होता जायगा।

[यदि कोई कहे कि यह दोष तेल का है तो यह बात असत्य मानी जायगी, क्योंकि तेल तो लकड़ी को भी नर्म कर देता है। मगर उस चर्म का स्वभाव ही ऐसा है। इसमें तेल का आंशिक भी दोष नहीं] इसमें यहाँ भी शास्त्रीय ज्ञान अथवा पढ़ाने वाले

गुरु का कोई दोष नहीं, यह तो उस उल्टी खोपडी वाले व्यक्ति का स्वभाव ही ऐसा था। जिस शाखा पर बैठना, उसी को काटना क्या समझदारी का लक्षण है। रूपचन्द जी ने सोचा कि—यह पापात्मा अभी ससार-सागर से पार होने के लिये तैयार नहीं। इसने अभी ससार मे ही गोते लगाने है। अत मुझे किनारा करना चाहिये, अपने आचार्य श्री जी के पास चलकर शुद्ध भागवती दीक्षा लेनी चाहिये। रूपचन्द जी ने भीखन जी से स्पष्ट कह दिया कि भीखन! तेरी श्रद्धा ठीक नहीं, तेरा पथ भगवान् से नितान्त विरुद्ध है अत मैं तो तेरे पास रहना नहीं चाहता। भीखन जी ने भी विचार लिया—कि अगर यह हमारे पास रहा तो अन्य साधुओं को भी बिगाडेगा। अत उसे कह दिया कि—अच्छा रूपचन्द! तेरी इच्छा। रूपचन्द जी वहा से चलकर गुरु जी के पास पहुचे। दण्ड प्रायश्चित्त लिया और शुद्ध भागवती दीक्षा पालने लगे। दिल में विचार किया कि इस पाखण्डी के जाल मे जितने भी भोले जन फंसेंगे, वे तो अपना इह लोक और परलोक बिगाड लेंगे। अत हमारा कर्त्तव्य है कि—समाज को सावधान करदें। फिर रूपचन्द जी महाराज ने बडे उत्साह से समाज मे जागृति पैदा की। समाज के अन्धकार को दूर किया। आचार्य श्री ने समाज के सर्व साधु मुनिराजों के अभिमुख होकर घोषणा कर दी कि—

"सर्व विद्वान् मुनिवरों का कर्तव्य है कि अशुद्ध श्रद्धाधारी भीखन से शास्त्रार्थ करें और शास्त्रप्रमाण दिखा २ कर उस के

सुय मे आउ-सतेणं भगवया एव मक्खाइं ॥

हे आयुष्मन ? (जम्बु !) भगवान् ने जैसा कहा था वैसा ही मैंने उनसे सुना है। तथा इस नवमे अध्ययन की प्रतिज्ञा करते हुए सुधर्मा स्वामी कहते हैं —

"अहा सुय वइस्सामि"

"जैसा मैंने भगवान् से सुना है वैसे ही कहूँगा"

क्या अब भी आप माप की लकीर को पीटते रहेंगे जो होना था सो हो लिया। गुरु के साथ हठ करना अच्छा नहीं होता। अगर आपका गुरु के साथ विरोध है तो धर्म के साथ तो नहीं है। हमे धर्म के विरुद्ध तो कुछ भी नहीं करना चाहिये। विशेष कर शासन नायक "जिनमे अणुमात्र भी राग द्वेष नहीं था उनमें भी हठ वश दोष सावित करना मोहनीय कर्म को बांधना है। हठ मे आकर अमूल्य जीवन क्यों डुबो रहे हो। कुछ तो पक्षान्धता दूर करो, कुछ तो ठण्डे दिल, दिमाग से विचार करो ? इस प्रकार रूपचन्द जी ने भीखन जी को बहुत कुछ समझाया। पर हठी भीखन ने एक भी न मानी। जिस प्रकार ऊँट के चर्म से बने हुए कुप्पे मे तुम कितना भी तेल क्यों न डालो, पर वह आगे से भी कठोर होता जायगा।

[यदि कोई कहे कि यह दोष तेल का है तो यह बात असत्य मानी जायगी, यत —तेल तो लकडी को भी नर्म कर देता है। मगर उस चर्म का स्वभाव ही ऐसा है। उसमें तेल का आंशिक भी दोष नहीं] एवमेव यहा भी शास्त्रीय ज्ञान अथवा पढ़ाने वाले

गुरु का कोई दोष नहीं, यह तो उस उल्टी खोपडी वाले व्यक्ति का स्वभाव ही ऐसा था। जिस शाखा पर बैठना, उसी को काटना क्या समझदारी का लक्षण है। रूपचन्द जी ने सोचा कि — यह पापात्मा अभी संसार-सागर से पार होने के लिये तैयार नहीं। इसने अभी संसार में ही गोते लगाने हैं। अत मुझे किनारा करना चाहिये, अपने आचार्य श्री जी के पास चलकर शुद्ध भागवती दीक्षा लेनी चाहिये। रूपचन्द जी ने भीखन जी से स्पष्ट कह दिया कि भीखन! तेरी श्रद्धा ठीक नहीं, तेरा पथ भगवान् से नितान्त विरुद्ध है अत मैं तो तेरे पास रहना नहीं चाहता। भीखन जी ने भी विचार लिया —कि अगर यह हमारे पास रहा तो अन्य साधुओं को भी बिगाडेगा। अत उसे कह दिया कि —अच्छा रूपचन्द! तेरी इच्छा। रूपचन्द जी वहा से चलकर गुरु जी के पास पहुचे। दण्ड प्रायश्चित्त लिया और शुद्ध भागवती दीक्षा पालने लगे। दिल में विचार किया कि इस पाखण्डी के जाल में जितने भी भोले जन फँसेंगे, वे तो अपना इह लोक और परलोक बिगाड लेंगे। अत हमारा कर्त्तव्य है कि —समाज को सावधान करदें। फिर रूपचन्द जी महाराज ने बडे उत्साह से समाज में जागृति पैदा की। समाज के अन्धकार को दूर किया। आचार्य श्री ने समाज के सर्व साधु मुनिराजों के अभिमुख होकर घोषणा कर दी कि —

"सर्व विद्वान् मुनिवरों का कर्तव्य है कि अशुद्ध श्रद्धाधारी भीखन से शास्त्रार्थ करें और शास्त्रप्रमाण दिखा २ कर उस के

ये हैं तेरापथी आचार्य के मधुर शब्द, जिनका दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। इस पर से इनकी भाषा सुमति का भली भाँति पता चल जाता है ॥

पुजेरे सज्जनों के लिये तेरापन्थी आचार्यका—

"प्यारा प्रसाद"

मूढ मिथ्याती मनोमोहिया थापे हिंसा धर्म ।
वान्दे निर्गुण देवगुरु ते भूल्या अज्ञानी मर्म ॥१॥
इम कही विरुद्ध परू पता नहीं आणे मन में लाज ।
देवल प्रतिमा कारणे करे अनेक अकाज ॥२॥

हिंसा धर्मी, मन्द बुद्धि, अन्दरती आख फूट गई, अन्धे, मूर्ख, डूबे, मोटी पोल, प्रत्यक्ष पाखण्डी, जिन प्रतिमा थापेकरि पेट भराई, इन हिंसा धर्मियों का सग न करो, मोह मिथ्याती।

जैनतत्व प्रकाश २ भाग उपरिनिदिष्ट "मीठे शब्द" भीखन निमित्त "जैनतत्व प्रकाश" और जयाचार्य रचित "भिक्षु जश रसायण" और "प्यारा प्रसाद" जैनतत्त्व प्रकाश "भाग दूसरा पृष्ठ १६२" नाम की पुस्तकों में देखे गये हैं। उन्हें उसी तरह यहा लिख दिया है। जिसे शका हो उसे पुस्तक निकाल कर देख लेना चाहिये। हा, मैं पाठकों से यह तो अवश्य कहूगा कि शास्त्र के अनुसार चलने का दावा करने वालों की सभ्यता पर, शिष्टता

पर और साधुता पर जरा गहरा ध्यान देकर सोचें तो सही कि—कैसे द्वेष की आग एक २ पद से टपक रही है। और इनकी साधुता राग द्वेष की चिता में जल रही है। अभी तो ये कहते हैं कि साधु ने राग द्वेष करना नहीं। और हम किसी पर भी राग द्वेष करते नहीं। यह राग द्वेष रहित वीत राग संयमियों का हाल है। भाषा सुमति का कितना विवेक है ? कितना उज्ज्वल आदर्श ? और कितने मधुर शब्द ?

आज के युग मे जहा राष्ट्रीयता पनप रही है, ससार कुछ न कुछ आध्यात्मिकता की तरफ अग्रसर होता जा रहा है, मानवता विकास की सीढियों पर चढती जा रही है—अहिंसा के झण्डे का पुनरुत्थान हुआ चाहता है वहा तेरापथ धार्मिक उन्नति के विकास मे बाधक चट्टान की तरह बनता जा रहा है। धर्म पर कलङ्क साबित होता जा रहा है। पन्थियो ! अब तुम्हें होश मे आ जाना चाहिये। अब तो समय है। समय व्यतीत हो जाने पर पछताना पडेगा।

"थोथी कल्पना"

(अर्थात्:—काल्पनिक धर्म के दो भेद)

जैन-धर्म और "१८१७" में उत्पन्न तेरापथ में धार्मिक, सैद्धान्तिक और सांस्कृतिक गहरा मतभेद है। जैन धर्म और तेरापथ को एक मानने वाले बड़ी भूल करते हैं। इनको एक कह देना सत्य का गला घोंट देना है। तेरा पन्थ ने आकर सुसंगठित जैन समाज को इस तरह छिन्न-भिन्न किया है जिसे मिलाना कठिन ही नहीं, असम्भव सा हो गया है। जिस मनुष्य ने हमारी आत्मा पर ही आघात करना प्रारम्भ कर दिया हो, उस मनुष्य से हमारा सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है। धर्म हमारी आत्मा है, उन्होंने धर्म को अधर्म रूप में परिणत कर दिया है। तेरापन्थियों के कल्पित धर्म के दो भेद और जैन शास्त्र प्रतिपादित धर्म के दो भेद नितान्त भिन्न २ हैं। जैसा कि वह अपने मूल ग्रंथ "भ्रम विध्वंसन" में पहले पृष्ठ पर लिखते हैं —

"ते धर्मरा दो भेद संवर और निर्जरा ए बिहु भेदाँ में जिन आज्ञा छै। ए संवर और निर्जरा बेहु इ धर्म छै" ए संवर और निर्जरा टाल अनेरा धर्म नहीं छै"॥

साराश यह है कि —धर्म के दो भेद हैं, संवर और निर्जरा। इन्हीं धर्म के दो भेदों में जिन आज्ञा है। इन दो भेदों को छोड़

कर धर्म का और कोई भेद नहीं है। उससे आगे चलकर दश वैकालिक सूत्र की पहली गाथा का उदाहरण देकर सिद्ध करने की चेष्टा भी की है। पाठक देखें कि गाथा मे कहीं धर्म के भेद भी कहे है —

धम्मो मगल मुक्किट्ठ अहिंसा सजमो तवो॥
देवाऽविम्र नमसन्ति जस्स धम्मे सयामणो॥

अर्थ —धर्म मगल —अर्थात् कल्याण का दाता और उत्कृष्ट योनि —सब वस्तुओं मे प्रधान है। वह धर्म अहिंसा, सयम और तप स्वरूप है। धर्म मे जिसका मन सदा लगा रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते है।

शास्त्र की इस गाथा के द्वारा तेरापथी सवर और निर्जरा धर्म के दो भेद सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु इस गाथा में धर्म का परम आनन्ददायक अलौकिक रूप समझाया गया है। न कि धर्म के दो भेद बताए गए हैं।

प्राचीन और नवीन सभी टीकाकारों ने उक्त गाथा का यही अर्थ किया है जिस का ऊपर उल्लेख किया है, परन्तु किसी ने भी उक्त गाथा आधार लेकर यह नहीं कहा कि —सवर और निर्जरा यह धर्म के दो भेद है। ऐसा अर्थ करना तो बुद्धि के पीछे लाठी लेकर चलना है। इसके अतिरिक्त ग्यारह अग, बारह उपाग, चार मूल, चार छेद और एक आवश्यक इन ३२ सूत्रों मे कहीं पर भी इस प्रकार धर्म के दो भेद नहीं किये।

भगवान् ने धर्म के दो भेद बताए हैं, देखिये—

"दुविहे धम्मे पण्णत्ते तजहा, सुयधम्मे चेव चारित्त धम्मे चेव ॥"

(ठाणाङ्गसूत्र, ठाणा दूसरा)

अर्थ —धर्म के दो भेद होते हैं —श्रुत धर्म और चरित्र धर्म। तथा ठाणाग सूत्र के दशवें ठाणे मे दश प्रकार के धर्मा में भी श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का ही ग्रहण किया है। वह पाठ इस प्रकार है· —

दशविहे धम्मे पण्णत्ते तजहा —गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठ धम्मे, पासडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, सघधम्मे, सुयधम्मे, चारित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे। (ठाणागसूत्र ठाणा १०)

अर्थ —दश प्रकार के धर्म होते हैं। (१) ग्राम धर्म (२)नगर धर्म (३) राष्ट्र धर्म (४) पाखण्ड धर्म (५) कुल धर्म (६) गण धर्म (७) सघ धर्म (८) श्रुत धर्म (६) चरित्र धर्म (१०) अस्ति काय धर्म ठाणाग सुत्र मे जो दश प्रकार के स्थविरों का वर्णन आता है उनमे भी श्रुत स्थविर (समवायाङ्गादि सूत्रों का ज्ञाता) और चारित्रस्थविर (बीस वर्ष का सयमी) का ही ग्रहण किया गया है। सँवरधर्म और निर्जराधर्म का उल्लेख कहीं भी नहीं किया गया। हा, तेरापथी अगर कुछ भी बुद्धि का परिचय देते तो ऐसा सफेद झूठ बोलने का साहस कभी न करते। जबकि वे स्वय "भ्रमविध्वसन" के पृष्ठ दो पर भगवती सूत्र का मूल पाठ देकर धर्मी पुरुषों का विवेचन करते हुए लिखते हैं —ससार मे चार

प्रकार फ पुरुष होते हैं —"एव खलु मए चत्तारि पुरिस जाया पएणत्ता सजहा —सील सम्पएणे नाम एगे नो सुय सम्पएणे। सुय सम्पएणे नाम एगे नो सील सम्पएणे। एगे सील सम्पएणे वि सुय सम्पएणे वि। एगे नो सील सम्पएणे नो सुय सम्पएणे॥

(भगवती सूत्र)

अर्थ—इस पाठ में चार प्रकार के पुरुषों का वर्णन किया गया है।

(१) समार मे कुछ मनुष्य केवल श्रुत सम्पन्न ही होते है चारित्रवान् नहीं होते।

(२) कुछ चारित्र सम्पन्न तो होते हैं पर श्रुतवान् नहीं होते।

(३) कुछ मनुष्य श्रुतधर्म और चारित्र धर्म दोनों से ही युक्त होते हैं।

(४) कुछ न ज्ञानवान् और न ही चारित्रवान् अर्थात् दोनों से ही खाली होते हैं। लिखने का आशय यह है कि —जहा पर भी धर्म और धर्मियों का वर्णन आया है, वहा पर श्रुत धर्म और चारित्र धर्म का ही नाम लिया गया है। सवर और निर्जरा का नहीं। अगर सवर और निर्जरा ही धर्म के दो भेद होते तो यहा पर भी सवर सम्पन्न और निर्जरा सम्पन्न, ऐसा ही पाठ आना चाहिये था। परन्तु ऐसा पाठ कहीं पर भी नहीं आया। बिना प्रमाण की बात अप्रामाणिक और असत्य मानी जाती है।

दूसरी बात यह है —अगर सर्व प्रकार की निर्जरा को धर्म

मान लिया जाय और भगवान् की आज्ञा में स्वीकार कर लिया जाय तो चौरासी लाख योनि के जीव अकाम निर्जरा सर्वदा करते रहते हैं। तो वे सब धर्मी हुए। मिथ्या दृष्टियों का तो संसार से एक दम किनारा हो गया। शोक है ऐसे मूढ मतियों पर जो दिमाग का दिवाला निकाल बैठे हैं। हठ बुरी बला है। दुर्योधन का हठ नहीं तो और क्या था। गौशाले की जिदबाजी नहीं तो और क्या थी। किन्तु इनका दिवाला निकलते संसार ने देखा है। आगे भी संसार ऐसे हठियों का दिवाला निकलते देखेगा। देख रहा हूँ। देखने से हमें शिक्षा मिलती है। किन्तु हठी इस से भी हठ का ही ग्रहण करता है। वह उसकी अन्तिम दर्दनाक दुरवस्था की तरफ दृष्टि डालकर नहीं देखता। वह अपनी बातों को पूरी करने में शास्त्रों के अर्थों को अनर्थ बनाने में भी किञ्चिन्मात्र नहीं झिझकता।

जो व्यक्ति मनुष्य देह, आर्य देश, शुद्ध कुल, सद्गुरुओं की संगति पाकर तथा उनके पवित्र दयामय उपदेश सुनकर भी अपने अनर्थकारी हठ को न छोड़ सके, अर्थों के अनर्थ बनाने में न झिझके, उसे समझाना कोई सरल काम नहीं होता। हमारा धार्मिक सम्बन्ध तोड़ कर तेरापथ ने एक गहरी खाई खोदली है, जिसे भरना असम्भव सा प्रतीत होता है। उसने संवर और निर्जरा रूप धर्म के दो भेद न जाने किस प्रमाण को लेकर कल्पित किये हैं। क्योंकि —संवर और निर्जरा —कर्मों को आने से रोकना और एकत्रित कर्मों को जर्जरित कर नष्ट कर देना ही जिनका

काम है, इनका आर्हत प्ररूपित श्रुतधर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। आर्हत प्ररूपित धर्म के सामने एक अज्ञानी मनुष्य की थोथी कल्पना कभी मान्य नहीं हो सकती। पाठक समझ ही गये होंगे कि तेरापथ और जैन धर्म में कितना गहरा धार्मिक मत भेद है। अगर अब भी तेरापथ अपने आप को जैन कहने का दावा करता है तो समझना चाहिये कि वह जैन समाज के साथ और धर्म के साथ धोका करता है। आँखों में धूलि झोंक रहा है। जिसका फल कभी भी हितकर नहीं हो सकता।

"महा पाप"

(अर्थात् :—दान का द्वार बन्द करने की आज्ञा)

तेरा-पन्थियों के मारे के मारे सिद्धान्त ऐसे कारागार के गढे हैं। जहा जैन शास्त्र रूपी सूर्य का किञ्चित् भी प्रकाश नहीं पडता। तथा पथ निर्माता की खोपडी को अपने पंथ का भूत भी बडी बुरी तरह से चिमडा हुआ प्रतीत होता है। वह नियम बनाते समय झूठ कपट और अनर्थ का ध्यान तक नहीं रखता। क्या वह सर्वथा स्वार्थान्ध पुरुष था? यदि ऐसा ही है तो ठीक है, स्वार्थान्ध पुरुष को धर्मार्थ और परमार्थ कुछ भी सूझा नहीं करता, वहा तो स्वार्थ ही चक्र काटा करता है —"दुनिया है और मतलब, मतलब है और अपना", क्योंकि —ऐसे पापमय नियम को ससार का एक भी सद् व्यक्ति मानने को तैयार नहीं हो सकता। दान के विषय में तो उनकी विचित्र ही कल्पना है। वह कहते हैं —कि साधु के सिवा ससार के सब प्राणी कुपात्र हैं। कुपात्र को दान देना महा पाप है जैसे कि —

"साधु थी अनेरा तो कुपात्र छै, कुपात्र दान—मासादि सेवन, व्यसन कुशीलादिक ये तीनों एक ही मार्ग के पथिक हैं। जैसे कि —चोर, जार, ठग, ये तीनों एक समान व्यवसायी हैं।

(भ्रम विध्वसन, पृ० ७६)

पाठक गण! अब जरा साधु की बात भी समझ लें, कि — साधु कौन है? जो तेरा-पथी साइन बोर्ड को लगाये फिरता हो। तेरापथी साधु के सिवा सब साधु असाधु है। प्रमाण देखिये —देव गुरु धर्म की ओलखना, और शिशुहित शिक्षा, नामक तेरा पन्थियों की मान्य पुस्तक मे —

"तेरा पथ मे प्रवर्तते गुरु (साधु) जाणवा"

(शिशु हित शिक्षा, भाग १, पृ० १४)

इस पाठ से स्पष्ट विदित हो गया कि —ससार में यदि कोई साधु है तो वह तेरा पथी ही है और कोई नहीं। साधुओं! होशियार!! अब तो साधुता के सींग तेरा पथियों के शिरों पर लगेंगे जिनसे पता लगता रहेगा कि जिसके शिर पर साधुता के सींग चमकते होंगे वही साधु होगा। कितनी सकीर्णता है। साधुता के नाम पर कितना कलङ्क है। कहा साधुता और कहा पथ का भेप। मालूम पडता है कि तेरापथियों ने साधुता को अपने पथ के भेप में कैद कर लिया है। अरे समझदारो! साधुता तो आत्मा के स्वभाव विशेष का नाम है भेप एक कल्पित चिह्न का नाम है, चिन्ह को धर्म मानना अथवा केवल चिह्न मात्र के धारण करने से साधु मान लेना कितनी मूर्खता है? और फिर साधु के सिवा सब कुपात्र है ऐसा कह देना किस शास्त्रानुसार? ससार के समस्त प्राणियों को (साधु के सिवा) दान देना महा पाप बताना किस सूत्रानुसार?

समझ मे तो यह बात आती नहीं। हां हो सकता है कि —तेरा पंथियों की समझ में आगई हो। अगर ऐसा ही है तो हम आशा रखते हैं कि वे हमे भी समझाने का कष्ट करेंगे? दूसरी बात — "करे ससार भ्रमण" अर्थात् —जो कुपात्र को दान देता है उसे ससार भ्रमण करना पड़ता है। देखिये —प्रत्येक तीर्थङ्कर वर्षी दान देते हैं, परन्तु ससार मे कोई तीर्थङ्कर नहीं रुलता। हां यहां तुम अपने कौशल से उट्टङ्कना अवश्य उठा मारते हो, उसे भी समझने से सत्यता का पता लग सकता है "उट्टङ्कना"—भगवान् महावीर ने जो साढे बारह वर्ष उग्र तप किया वह कुपात्र दान का फल भुगतने के लिये ही तो किया था" उत्तर —भगवान् मल्लिनाथ तथा, नेमनाथ जी ने भी वर्षी दान दिया था, किन्तु उन्हें तो दीक्षा लेते ही केवल ज्ञान और केवल दर्शन हो गया था। उन्हे वह मासादि सेवन जैसा कुपात्र दान का कुफल न जाने क्यों नहीं भोगना पडा।

अब तेरा-पथियों की विचित्र बुद्धि का खरा नमूना देखिये— जब तेरा-पंथियों को कुछ सूझ नहीं करता तो उनकी जड बुद्धि "टॉय टॉय फिस" करने लग जाया करती है और तेरा पथी "ससार खाता" "ससारी उपकार" "संसारी धर्म" आदि रजिस्टर्ड शब्द कह कर पीछा छुडाया करते हैं। जैसे कि—तीर्थङ्करों ने यह तो ससारी उपकार, अथवा प्रचलित रीति का पालन किया है। इसमे धर्म का क्या प्रश्न? ठीक! उन्होंने रीति का पालन किया है, तो हम पूछते हैं —कि यह उपकार अथवा रीति अच्छी

है या बुरी ? अगर बुरी है तो उसका फल भी बुरा होगा, जिसका अर्थ है पाप। अगर अच्छी है तो उसका फल भी अच्छा होगा, अर्थात् पुण्य। अब आप बताएँ कि—अगर वह रीति बुरी है तो तीर्थङ्कर देव बुरी रीति का अनुसरण ही क्यों करते हैं। क्योंकि —उनका जन्म केवल कुरीतियों को दूर करने के लिये ही होता है, वे समाज में आई हुई कुरीतियों को दूर कर धर्म रीति स्थापना करते हैं। इसीलिये इन्द्रदेव भगवान् को "आदि-गराण" कह कर स्तुति करते हैं। तो ऐसे समय में जबकि—वह शान्त दान्त सयमी बन कर सासारिक कार्यकलाप को तिलाञ्जलि ही दे देते हैं, उस समय उन्हें मासादि सेवन जैसी पापमयी रीति के पालने की आवश्यकता ही क्या है। यदि उस रीति से पुन्योपार्जन होता है तो उसमें पाप कैसे ठहराते हो। भगवान् ने ठाणाग सूत्र के नवमे ठाणे में पुण्योपार्जन के नव प्रकार बताये हैं "नव विहे पुण्णे पण्णत्ते तजहा —अन्न पुण्णे, पाण-पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, वत्थ पुण्णे, मन पुण्णे, वय पुण्णे, कायपुण्णे, नमोकार पुण्णे॥ (ठाणांग सूत्र, ठाणा ६) अर्थ —पुण्योपार्जन के नौ प्रकार भेद कहे हैं —जैसे—अन्न के देने से, जल के देने से, घर मकान देने से, शय्यासथारा आसनादि का दान देने से, वस्त्र दान देने से, गुणज्ञ पुरुष पर प्रसन्न होने से, (मन से हित चिन्तन करने से) वचन से गुणी की प्रशसा करने से, (हितकर उपदेश देने से) गुणी पुरुष को नमस्कार करने से।

तेरा पथियों की मान्यताऽनुसार ससार का जो प्राणी पुण्यों पार्जन करना चाहता है, उसे ये वस्तुए तेरा पथी साधु को देनी चाहिये, नहीं तो पुण्य पैदा नहीं हो सकता। कितना पुण्य का सीमित क्षेत्र बनाया है। कहा तो सर्वज्ञ भाषित व्यापक वचन जो कि समष्टि रूप में संसार के प्राणि मात्र पर लागू होते हैं। यह एक स्वार्थ पूर्ति के कारखाने बना डाले हैं। भगवान् ने जो सुनइयों का दान दिया है, वह पाप नहीं, संसारी उपकार मात्र नहीं, यह तो पुण्योपार्जन की प्रणाली है। शकावादी कह सकता है कि —सुनइयों का दान तो किसी पुण्य मे नहीं आया, अत सुनइयों का दान पुण्य नहीं हो सकता।

उत्तर —ठीक है —किन्तु किसी समय पका हुआ भोजन देना उपयुक्त नहीं होता तो गरीबों को आटा आदि भी बाट दिया जाता है, और उसे भी पुण्योत्पादक ही माना जाता है। उसी तरह सुनइयों का दान भी अन्न वस्त्र आदि का ही दान माना जाता है। क्योंकि — सुनइयों से लोग अन्न और वस्त्र आदि ही लेते हैं। अत वे भी पुण्योत्पादक ही हैं।

अब आप दूसरी तरफ आइये —यदि साधु के बिना अन्य को दान देने में एका त पाप है, तो दशवैकालिक सूत्र मे अन्य को दिये जाने वाले दान को पुण्यार्थं क्यो कहा —

"असण पाणग वाऽवि, खाइम साइम तहा।
ज जाणिज्जा सुणिज्जा वा, पुण्ट्ठा पगड इम ॥"

(दशवैकालिक सूत्र)

भिक्षाचरी के निमित्त गया हुआ साधु यदि यह समझे—अथवा किसी से सुने कि—यह अशनादिक पुण्यार्थ बनाया गया है तो साधु (जैन मुनि) उसे अपने लिये अकल्पनीय समझे, अर्थात्—उस पुण्यार्थ निर्मित अन्न जलादि को ग्रहण न करे।

इस गाथा मे साधु से इतर को देने के लिये बनाए हुए अन्न को पुण्यार्थ कहा गया है। साधु के सिवा अन्य को दान देने में एकान्त पाप कहना अज्ञान का परिणाम है। अगला पाठ देखिये—

"दाणट्ठयाए, पुण्णपगड्डम्"

(प्रश्न व्याकरण सूत्र अमोलकऋषि कर्षिजीकृत पृ० २०७)

अर्थ—दान देने के लिये जो अन्नादिक तैयार किया जाता है, अथवा पुण्य के निमित्त जो अन्नोदक बनाया जाता है उस भोजन को साधु न ग्रहण करे।

अगर अब भी तेरापथी साधु के सिवा अन्य को दान देने मे पाप कहेंगे तो समझना चाहिये कि—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उदय हुआ है।

तीसरी बात—अन्य को दान देने मे एकान्त पाप होता है, अतएव साधु ने दान देने का पचक्खाण किया है। कितनी झूठी मान्यता है। यह तो बात आप जानते ही हैं—कि साधु का परिग्रह का तो त्याग होता है। अत जब उसका किसी वस्तु का दान देने में अधिकार ही नहीं? तो उसके विषय मे प्रश्न करना कि साधु ने दान देने का त्याग पाप समझ कर ही

क्रिया है—कितना असत्य है। हो सकता है —कि तेरापंथी साधु ऐसा नियम करते होंगे पर भगवान् महावीर का सच्चा साधु तो ऐसा पापमय नियम कभी नहीं कर सकता। सच्चा साधु तो समय आने पर संकटग्रस्त भिक्षु सन्यासियों को दाता के कहने पर अन्न दे सकता है —देखिये मूल पाठ —

"सेपरो अणाताय मसलोए, चिट्ठे माणस्स असणं पाणं खाइम वा साइम आहट्टु दलएज्जा। सेव वएज्जा "आऊ—सन्तो! समणा निसिट्ठे। त भुजह चण परिभाएह चण" त चे गतिओ पडि गाहेत्ता तुसिणीओ ओहेज्जा, "अवियावइ एय मम मेव सिया" एव माइट्ठाण सफासे। णो एव करेज्जा। से त्तमायाए तत्थ गच्छेज्जा (२) से पुव्वा मेव आलोएज्जा "आऊ सतो! समणा! इम भो असणे वा (४) सव्व जणाए निसिट्ठे। त भु जह चण परिभाएह चण" सेव वदन्त परो वएज्जा। "आऊ सतो! समणा! "तुम चेवण परिभाएहि" सेतत्थ परिभाए माणे णो अप्पणो खद्ध २ डाय २ ऊसड २ रसिय २ मणुन्न २ णिद्ध २ लुक्ख २ से तत्थ अमुच्छिते अगिद्धे अगढिए अण ज्झोववणे बहु सममेव परि भाएज्जा सेण परिभाएमाण परो वएज्जा। आऊ सतो! समणा! माण तुम परिभाएहि सव्वे वेगतिया भोक्खामो णो अप्पणो खद्ध खद्ध जावलुक्ख लुक्ख से तत्थ अमुच्छिए बहु सममेव भुञ्जेज्जा वा परिएज्जावा।

(आचाराङ्ग सूत्र)

अर्थ —एकान्त स्थान में खड़े हुए श्रमण निर्ग्रन्थ को देख

कर दाता कहे कि महाराज ! यह अशनादिक चारो प्रकार का आहार जो मैं आपको देता हूँ यह सब आहार मेरे घर में खड़े भिक्षु सन्यासी साधुओं का और आपका इकट्ठा ही है। अब आप यह आहार सब इकट्ठे ही खालो—अथवा परस्पर सबको विभक्त करदो, यह आपकी इच्छा है। ऐसा वचन सुनकर यदि श्रमणनिर्ग्रन्थ मौनस्थ पने ऐसा विचार करे "कि यह आहार तो केवल मेरा पेट ही भर सकता है" तो ऐसा विचार करने वाला साधु माया (कपट) के पापका भागी होता है, इसलिए साधु ऐसा विचार न करे। किन्तु गृहस्थी के दिये हुए आहार को लेकर दूसरे भिक्षु सन्यासियो के पास जाकर कहे कि — अयि आयुष्मन् ! भिक्षुवर्ग ! यह आहार हम सब के लिये मिला है। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो एकत्र मिलकर खाये। अगर ऐसी इच्छा न हो तो विभाग करके खाए। यदि यह बात सुनकर उनमे से कोई साधु कहे कि —भाई ! श्रमण ! तुम ही अपने हाथ से विभाग करदो। तो श्रमण निर्ग्रन्थ सबका समान विभाग करता हुआ अपने लिये अधिक १ अच्छा २ सरस ३ रूखा ४ रखे नहीं। अपितु सर्वथा लोलुपता रहित सम विभाग करे। यदि सम विभाग करते समय कोई सन्यासी ऐसा कहे कि अहो ! मुने ! तुम विभाग मत करो। हम सब आपके साथ इकट्ठे बैठकर भोजन करेंगे तो श्रमण निर्ग्रन्थ उन सबके साथ भोजन करता हुआ— अपने लिये अच्छा १ सरस २ आहार निकाल कर न खावे। अपितु समतापूर्वक शान्त होकर उनके साथ भोजन करे।

पुण्यफल की प्राप्ति हो सकती है। अन्य को देने से नहीं, उससे तो देय वस्तु का ही नाश समझना चाहिये। अतएव हम सुपात्र दान को धर्मोत्पादक मानते हैं, अन्य को नहीं?

उत्तर —ठीक है आप सच्चे साधु के सिवा अन्य को दान देने का फल एकान्त पाप मानते हो, किन्तु आपको समझ लेना चाहिये कि —जैन धर्म अनेकान्तात्मकवाद को मानता है, वह एकान्तवादी नहीं है। वस्तुत तो ससार का प्रत्येक तत्त्व अनेकान्त मे विश्राम करता है, जैसे कि —बीज एक प्रकार का नहीं होता, उसी तरह उसका उत्पत्तिस्थान (भूमि) भी एक प्रकार का नहीं होता, भिन्न २ प्रकार के बीज और भिन्न २ प्रकार के पृथवीस्थल हैं। धान्य की उपजाऊ भूमि मे हम बाजरा और अच्छे चणे नहीं पैदा कर सकते। इसी प्रकार पुण्य पैदा करने के लिये दीन अनाथ-असहाय भिखमगों आदि को अन्न वस्त्र का दान करना चाहिये। और निर्जरा पैदा करने के लिये स्वधर्मी और पाचमहाव्रतधारी साधु को दान देना चाहिये। परन्तु पाच महाव्रतधारी साधु को अनुकम्पा के भाव से नहीं, गुरु बुद्धि से दान दिया जाता है। क्योंकि —साधु तो सर्व जीवों का रक्षक है। साधु का यह उपदेश कभी नहीं हो सकता कि पाच महाव्रतधारी साधु के सिवा अन्य किसी को भी दान नहीं देना चाहिये। तेरापथी इसे स्पष्ट न कहकर जरा उलटफेर करके कह देते हैं। जैसे कि —साधु के सिवा अन्य को दान देना एकान्त पाप कर्म है, श्रावक के लिये पाप कर्म नहीं करना चाहिये।

परन्तु भगवान् ने फरमाया है कि —जो पुरुष अन्य को दान देने का निषेध करता है वह महा मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। वह पाठ —

"वित्तिच्छेय करेय" "मादेहकिंचिदाण"

(प्रश्न व्याकरण सूत्र)

अर्थ —किसी की आजीविका को बुरे विचार से नष्ट करने वाला, और अमुक को दान मत दो, अथवा साधु के सिवा अन्य को दान देना एकान्त पाप होता है, ऐसा कहने वाला मनुष्य महामोहनीय कर्म को बाधता है। जैसे कि —तेरापथी साधु श्रावकों को नियम कराया करते हैं कि —पाच महाव्रतधारी साधु के सिवा अन्य किसी भी मनुष्य को दानबुद्धि से दान नहीं देना, यदि अकस्मात् दिया भी जाय तो प्रायश्चित्त (पश्चात्ताप) करलेना नहीं तो पाप का यमदूत चिमड जायगा। जैसे कि —

भेषधारी आया घर बाहर ए जेने शरमा शरमी देवे आहार ए पछे कर पश्चाताप ए तो थोडा लागे पाप ए।

तात्पर्य यह है कि — तेरापथी साधु अपने भक्तो को ऐसा उपदेश देते हैं कि यदि अन्यमतावलम्बी कोई भी साधु मकान पर आजावे ता उसे आहार देने मे एकान्त पाप होता है। परन्तु यदि शरमा शरमी से आहार दिया भी जाय तो पीछे से पश्चात्ताप करे जिससे कि पाप थोडा लगे। यदि सारा पाप उतारना हो तो इस कडी को पढना चाहिये —

कोशानुसार तीर्थ नाम पात्र का भी होता है। क्योंकि—अर्हत् परूपितधर्म के चारों पात्र होते हैं। भगवान् के परूपित धर्म के अधिकारी वर्ग को कुपात्र ठहराना भगवान् के तीर्थ का करना है। कुपात्रों का नाम तीर्थ नहीं होता क्योंकि —

शास्त्र मे चतुर्विधसंघ का इकट्ठा ही हित पथ्य और सुख तथा अनुकम्पा का कामुक होने से सनत्कुमारेन्द्र चरम, भवसिद्ध होगा। वह पाठ जैसे —

"गोयमा! सणं कुमारे देविन्दे देवराया बहूणं, समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं हिय काम ए, सुहकामए, पत्थ कामए, आणुकम्पिए निस्सेयसिए हिय सुहे निस्सेस कामए से तेणट्ठेणं गोयमा! सणंकुमारेणं भवसिद्धिए जाव णो अचरिमे॥

(भगवतीसूत्र, शतक तृतीय उ० १)

अर्थ —हे गौतम! सनत्कुमार देवेन्द्रदेव राजा बहुत से साधु, बहुत सी साध्वी, बहुत से श्रावक और बहुत सी श्राविकाओं का हित का कामी होने से, सुख का कामी होने से, पथ्य का कामी होने से, अनुकम्पा का कामी होने से अर्थात —हित, सुख, पथ्य और कल्याण का कामी होने से सनत्कुमार देवेन्द्र भवसिद्ध हुआ—

अर्थात् —चरिम भाव को प्राप्त हुआ। एक जन्म के बाद मोक्ष जाने वाला बना।

इस पाठ मे चतुर्विध संघ का हितेच्छु होने से, तथा उसे पथ्य उपयुक्त औषधि तथा श्रेष्ठ आरोग्यप्रद भोजन आदि देने का

अभिलाषी होने से सनत्कुमार देवेन्द्र चरिम अर्थात् भवसिद्ध (एक भव बाद मोक्ष जाने वाला) हुआ। यहाँ पर यह नहीं कहा गया कि साधु और साध्वियों का ही हित-पथ्य कामी होने से चरिम-सिद्ध हुआ। अगर साधु के सिवा सब कुपात्र है और कुपात्र में श्रावक तथा श्राविका वर्ग भी है, तो उन कुपात्रों की अनुकम्पा, पथ्य, हित और सुख चाहने से सनत्कुमार देवेन्द्र कैसे भवसिद्ध हुआ? तेरापंथियों के सिद्धान्तानुसार तो उसे श्रावक और श्राविका का सुख पथ्य चाहने से पाप होलगना चाहिये था। किन्तु वह भवसिद्ध हुआ। इस प्रमाण से तुम्हारा सिद्धान्त "साधुथी अनेरा कुपात्र छै" यह एकान्त मिथ्या है।

क्योंकि —शास्त्र में चतुर्विध संघका ही इकट्ठा हित करना भावी कल्याण का कारण कहा है। किन्तु तेरापंथी साधु के सिवा अन्य की सहायता करना वेश्या और कसाई की मदद करने के बराबर मानते हैं। उन्हें इस बात का तो उत्तर देना चाहिये कि —भगवान ने ठाणाङ्ग सूत्र में "अन्य मतके साधु और ब्राह्मणों की सहायता के लिये जैन साधु राज दरबार में भी जा सकता है" ऐसा क्यों कहा। क्या भगवान् भी पाप-कारिणी आज्ञा दे सकते हैं?

शर्म!!!

अगल पाठ देखिये जहाँ भगवान ने समकित के आठ आचार कहे हैं। वहाँ पर भाई का आदर सत्कार और भोजन

वाले कह सकते हैं और ना ही पूर्ण अन्धकार वाले। अन्त में हमें यह कहना पडेगा कि —कुछ दिन प्रकाश वाले और कुछ दिन अन्धकार वाले होते हैं तथा इनमें प्रकाश और अन्धकार बराबर घटता बढता रहता है। इसी प्रकार सुपात्र और कुपात्र का विषय है। जो पूर्ण साधु है, वे तो एकदम सुपात्र, और इनको दान देने का नाम भी सुपात्र दान होगा। इससे नीचे उतर कर ग्यारह पडिमाधारी श्रावक तथा उससे नीचे संसार के अन्य स्वधर्मी बन्धु तथा दीन, अनाथ अनुकम्पा दान के पात्र हैं।

दूसरा पक्ष —जो दान कमाई वेश्यादिक को उनके व्यापार को उत्तेजित करने के लिये दिया जाता है वह एकदम कुपात्रदान ठहरा। वास्तव मे ये दान के बिलकुल अयोग्य ही है। अब रहे ससार मे दीन अनाथादि कि —इनको दान देने का क्या फल होता है ? यह समझने योग्य बात है। क्योंकि संयमी साधु को दान देने का फल तो एकान्त निर्जरा होनी है, और वेश्यादिक के व्यापार मे वृद्धि के लिये दिये गये दान का फल पूर्ण पाप है। शेष जो अनुकम्पा आदिक तथा वात्सल्य भाव आदि के द्वारा दान दिया जाता है वह अट्ठाईस दिनों की तरह पुण्य और पाप से मिश्रित समझना चाहिये। अगर कोई कहे कि सबको दान देने का फल पुण्य या एकान्त पाप है तो यह बात एकाव असत्य मानी जायगी। क्योंकि —पूर्ण सयमी साधु को दान देने से तो निर्जरा होती है। उसमें कारण यह है कि —यह दान गुरु बुद्धि और मोक्ष की इच्छा से दिया जाता है, अनुकम्पा

आदि की इन्छा से नहीं। देखिये वह पाठ —

"समणो वासगस्सण भंते! तहारूव समण वा माहण वा फासु एसणिज्जेण असण पाण खाइम साइमेण पडिलाभे माणस्स किं कज्जइ? गोयमा! एगतसो सेनिर्ज्जराकज्जइ। नत्थिय से पावेकम्मे कज्जइ।।"

(भगवती सूत्र, श० ८ उ० ६)

अर्थ —प्रश्न —अहो भगवान्! तथा रूप पूर्ण और सच्चे साधु को तथा श्रमण भूत एकादश प्रतिमाधारी श्रावक को प्रासुक कल्पनीय अशन, पान, खादिम और स्वादिम्य आहार देने से दाता को किस फल की प्राप्ति होती है?

उत्तर — अहो गोतम! वह आहार देने वाला दाता एकान्त निर्जरा को प्राप्त करता है। किञ्चिन्मात्र भी पाप कर्म नहीं करता।

पाठक! इस पाठ को देखें और समझें कि —भगवान् एकादश प्रतिमाधारी श्रावक की भी पदवी वही रखते हैं अर्थात् उसे भी श्रमण भूत कहा जाता है और उसे भी दान देने का फल वही बतलाया है जो साधु को देने से होता है। अर्थात् — एकान्त निर्जरा। इस पाठ में पुण्योपार्जन होना नहीं कहा गया है। तो तेरापंथियों की मान्यताऽनुसार मनुष्य किसी भी प्रकार से पुण्योपार्जन नहीं कर सकता। क्योंकि —साधु भी अनेरा तो सर्व कुपात्र छ। साधु को दान देने से निर्जरा की प्राप्ति होती ऐसा भगवान् फरमाते हैं। और कुपात्र दान से मासभक्षण समान पाप लग जाता है, अत पुण्योपार्जन का कोई मार्ग दीखता ही नहीं है।

ठीक भी है" सावन के अन्धे को हरा ही हरा दीखता है। इसी तरह तेरापथियों को भी शायद सब जगह पाप ही पाप दीखता हो। दान करने मे भी पाप, दया करने मे भी पाप, किसी की नि स्वार्थ सेवा करने मे भी पाप। अरे अकल के बुद्ध ओ! किसी जगह पुण्य भी पैदा होता है या नही ? कितनी आश्चर्यजनक बात है, सर्वत्र पाप ही पाप। भगवान् महावीर ने भी शायद इन्हीं को शायद इन्हीं को समक्ष रख कर ऐसे पुरुषों को दान देने मे भी पाप कह दिया है —

"समणो वासगस्सण भंते। तहारुव असजय अविरय, अपडिहय पन्चक्साय पावकम्मे फासुएण वा अफासुएण वा एस-णिज्जेण वा अणे सणिज्जेन वा असण पाण खाइम साइमेण पडिलाभे माणस्स किंकज्जइ ? गोयमा ! एगन्त से पावे कम्मे कज्जइ। नत्थि से काइ निर्जरा कज्जइ।

(भगवती सूत्र, शतक ८ उ० ६)

अर्थ —अहो भगवान्! तथा रूप भेषधारी (अर्थात् भेष तो सच्चे श्रमण निर्ग्रन्थों जैसा हो। जैसा कि —भगवान् के समय मे जमाली के साधुओं का था। और आज कल तेरापन्थियों का है) ऐसे असयति, अव्रती, अप्रत्याख्यानी को तथा पाप करते हुए को न रोकने वाले साधु को मोक्षार्थ गुरु बुद्धि से प्रासुक व अप्रासुक योग्य अयोग्य अशनादि देने वाले श्रावक को एकान्त पाप फल होवे किंचित् निर्जरा न होवे।

अब तेरापन्थियों को पुण्य का पाठ देखना चाहिये अथवा उन्हें समझ लेना चाहिये कि — दीन, अनाथ आदि को जो अनुकम्पादान दिया जाता है वह मोक्षार्थ व गुरु बुद्धि से नही दिया जाता। क्योंकि —अव्रती को भी गुरु बुद्धि से दान देना केवल पाप को ही बाधना है। किन्तु उन्हें अनुकम्पा से दान दिया जाता है। अत वह दान पुण्योत्पादक है निर्जरा का उत्पादक अथवा पाप का उत्पादक नहीं है। क्योंकि —जो गृहस्थी पुरुष पुण्य के लिये धर्मशाला (सरॉय) तथा प्याऊ आदि बनवाते हैं वे भी पुण्य का सचय करते हैं। भगवान् ने ऐसे पुरुषों को उपकारी कहा है। तथा इन वस्तुओं से अल्प पाप बहु पुण्य बताया है। वह पाठ देखिये —

"गायामा! से जहाणामए इहेव मणुस्स लोगसि उवगारिय लेणाइ वा उज्जाणिय लेणाइ वा णिज्जाणिय लेणाइ वा वारिधारिय लेणाइ वा तत्थण वहवे मणुस्साय मणुस्सिओय आसयन्ति सयन्ति। जहा रायप्पसेण इज्जे जाव कल्लाण फल विति विसेस पच्चणभवमाणा विहरन्ति। अण्णत्थ पुण वसहिं उवेति।

(भगवती सूत्र, शतक १३ उ०,६)

अर्थ —अहो गोतम! जैसे मनुष्य लोक में उपकारी जनों के परोपकार के लिये बनवाये हुए विश्रान्तिगृह होते हैं। जैसे कि— उद्यान, बगले, बगीचे, मुसाफिर खाने आदि तथा आते जाते पथिको की पिपासा दूर करने के लिये पौ (प्याऊ) होती हैं। वहा पर बहुत से मनुष्य, स्त्रिया आ आकर आश्रय ग्रहण करती हैं।

शयन करती है। इसका विस्तृत उपाख्यान राजप्रश्नीय (अर्थात् राजा प्रदेशी की कथा से ग्रहण करना) जिस राजा प्रदेशी ने श्रमण निर्ग्रन्थ केशी कुमार जी के 'कि —हे भूपते! रमणीक होकर अरमणीक मत होना' अर्थात् —प्रजा के दीन दु खी, अनाथ और ब्राह्मणों का पशुओं का महादक आश्रयस्थल बन कर स्वार्थी, हिंसक, निर्द मत बनना। राजा प्रदेशी उत्तर देता है कि हे महाराज! धर्म गुरो! मैं रमणीक होकर ही विचरूंगा, अरमणीक होकर नहीं! मैं आज से ही बहुत सारे दु खियों को, दीन, अनाथ और साधु ब्राह्मणों को अशन, पान, खादिम, स्वादिम, विपुल सामिग्री तैयार कराके भोजनादि दूंगा, मैं स्वय उनको खिलाऊंगा। तथा इस विशाल राज्य की आय (आमदनी) का चौथा भाग इस काम मे लगाऊँगा और बहुत सारे पोषध उपवास करता हुआ विच रूंगा। इसी प्रकार जो उपकारी मनुष्य कल्याण तथा फलवृत्ति विशेष को भोगते हुए और पुण्योपार्जन करते हुए विचरते हैं वे मनुष्य पुण्यार्थ बनाए हुए स्थानो मे आप नहीं रहते, किन्तु उनमे तो दूसरे थके मान्द पुरुष और स्त्रिया ही विश्राम लेती है।

क्या तेरापथ समाज —इस पाठ को पढ़कर अपनी भूल पर पश्चात्ताप करेगा? क्या वह फिर अपने शुद्ध मार्ग पर आ जायगा? क्या वह पुण्य कार्यों मे फिर तो एकान्त पाप न बताएगा अगर उसे भगवान् के वचनों पर कुछ भी श्रद्धा हुई तो वह

अवश्य भोली जनता की आँखों मे धूल झोंकने से बाज आजायगा। अगर मुँह लगे हुए (सेवा का नियम करवाकर उनसे स्वादिष्ट गरिष्ठ भोजन करना) स्वाद का चस्का नहीं छूटने का तो तेरा-पंथियों ! समझलो कि —तुम्हारे अपभाषण सुश्रद्धा का विरोध और सूत्रों के अनर्थ विस्तीर्ण मोहनीय कर्मसागर को खोद रहे हैं। उसमे डूब मरने के सिवा तुम्हारे लिये और कोई चारा नहीं होगा। अगर अब भी वे यही रटते रहेंगे कि --"साधु थी अनेरा नो सर्व कुपात्र छै। कुपात्रदान मास भक्षण समान पाप है। जैसे "चोर, जार, ठग एक समान व्यवसायी हैं, इसी प्रकार ससार मे केवल तेरापंथियों को छोडकर सब कुपात्र हैं, और तेरापंथियों के सिवा अन्य किसी साधु सन्यासी को दान देना और मास भक्षण करना एक बरावर है।" अयि धर्म और दान के शत्रुओ ! कुछ तो शर्म करो। दान का द्वार बन्द करने की कुप्रथा का प्रचार बन्द करदो। इस कुबुद्धि को नष्ट कर दो, दूर कर दो इस तग दिली को। क्योंकि —यह समझने की बात है कि —

दान निवृत्ति से होता है, निवृत्ति नाम त्याग का है। त्याग जीवन को उन्नत बनाता है, और पवित्र आदर्श को समाप कर देता है, कल्याण मार्ग की सीढी पर चढने के लिये हमें शक्ति प्रदान करता है। इससे अच्छी वस्तु ससार मे मिलनी असभव नहीं तो कठिन अवश्य है जो मनुष्य को कुछ ही समय मे आदर्श-मय बना देती हो। शमस्तु सर्व जगताम्।

"पंथियों की नीचता"

इस तीर्थ के आदि कर प्रवर्तक शासनपति श्रमण भगवान महावीर ही सर्वेसर्वा हैं। उनकी आज्ञा के अनुयायी साधु साध्वी श्रावक और श्राविका के संघ का नाम ही तीर्थ है। जैसे कि — "खामेमिसव्वे जीवा" के पाठ से पहले तीर्थ अङ्गों को धन्य पद से विभूषित किया जाता है यथा —धन्य २ साधु "धन्य साध्वी" धन्य श्रावक और धन्य २ श्राविका कह कर क्षमापना आदि का व्यवहार है तथा वन्दना आदि में (पांच पदों की बड़ी वन्दना) भी धन्य है वह वे ग्राम नगर पुर पाटन जहां अरिहन्त देव विराजते हैं, धन्य हैं उनको जो अरिहन्त देव का उपदेश सुनते हैं श्रद्धते हैं।" भगवान् के उपदेश के श्रवण मात्र से श्रोता धन्यवाद से विभूषित किया जा सकता है। तो भगवान् के तीर्थ का अङ्ग भूत और संयम पालने में सहायक भूत श्रावक तो धन्यार्ह है ही। किन्तु सभ्यता के प्रतीक तेरापंथी आचार्य देव भिक्षु जश रसायण ' पृ० ५५ में क्या फरमाते हैं —

॥ "श्रावक कमाई सगीरा रे०" ॥

उससे अगले पृष्ठ ५६ पर क्या लिखते हैं, पढ़िये —

॥ "श्रावक ने चोर गिणै इम सरीखो" ॥

श्रावक असयती, अव्रती है, श्रावक कुपात्र है , श्रमणभूत श्रावक को भी दान देना मास भक्षण समान पाप है। आदि आदि ॥

अरे ! कहा तो सभ्यता, शिष्टाचार का आदर्श साधु और श्रावक, और कहा ये कुल कलङ्क, जो श्रावक का अपमान करने मे अपनी चतुराई समझ रहे हैं। श्रावक समाज के लिये कितना अनर्गल भाषण किया है। इन्होंने तो अपना नाम जैन रख कर शिष्ट समाज को कलङ्कित करना ही अपना मुख्य ध्येय बना डाला है। तेरापन्थियो ! क्या तुम्हे इस बात का पता है कि श्रावक भी भगवान के शिष्य है ? तथा साधु के साथ भी इनका गुरु शिष्य का सम्बन्ध है ? अगर यह ठीक है तो बताओ कि — कभी क्रोध और शान्ति का, लोभ और त्याग का सम्बन्ध आपस मे हुआ है ? अगर नहीं तो तुम्हारी मान्यताऽनुसार कुपात्र श्रावक का सुपात्र साधु के साथ कैसे सम्बन्ध हो सकता है। देखिये —

"साधु संयती — श्रावक असयती,
साधु-धर्मी — श्रावक अधर्मी,
साधु-सुपात्र — श्रावक कुपात्र,
साधु पूर्ण त्यागी — श्रावक चोर जार कसाई",

तो आप बतावें कि —काजी और दूध का सम्बन्ध कैसा, आग और जल का सम्बन्ध कैसा। तेरापथियो को चाहिये कि —

भव्य जीवों के समस्त धर्म मे प्रेम रखने वाले, हर्ष के साथ धर्मा
चरण करने वाले, धर्म के साथ अपनी आजीविका चलाने वाले
सुन्दर स्वभाव वाले, सुव्रती, और साधु जैसे आनन्द मे मग्न
रहने वाले श्रावक होते हैं ॥

पाठक इस पाठ से भलीभांति अनुमान लगा सकते हैं कि—
परम करुणालय श्रमण भगवान् महावीर का सच्चा उपासक
कितने उच्च पद का अधिकारी है। साधु के सयम मे श्रावक
सहायक है। अत भगवान श्रावक को —सुपात्र, सुव्रती, सयता
सयती, धर्मी, धर्म मे आजीविका चलाने वाला, उत्कृष्ट श्रावक,
साधु जैसा, आदि २ विशेषणों से विभूषित करते है। कि
तेरापथी —श्रावक को —कसाई, चोर, कुपात्र, असयती, अव्रता
अप्रत्याख्यानी आदि विशेषणो से अलकृत करते हैं। अत प्रिय
श्रावक वर्ग! कसाई और चोर बनाने वाली कम्पनी से ज़रा
सम्भल कर बात करना। अभी तेरापथी चोर के दुर्गुणो से
परिचित नहीं दीखते। अगर नहीं तो देख लीजिये चोर कि
करते हैं। यथा —

"तत्तण रायगिहे नगरे वहिया विजए नाम तक्कर होत्था
पावे चण्डाले, रूवे, भीमतर रुद्द कम्मे अरुसियदित्ता रत्त नयण
खर फरुस महल्ल विगय बीभत्स दाढिए असम पुट्ठिए उट्ठे उद्ध
पइण्ण ल वत मुध्यए पइभमर राहु वण्णे,—

णिरणुक्कोसे णिरणुतावे दारुणे पइभते णिसे सतिते निरणु कम्पे० । इत्यादि ॥

(ज्ञाता सूत्र)

अर्थ —उस राजगृही नगरी के बाहर विजय नामक अति-प्रसिद्ध चोर रहता था। (सूत्रकार उसकी प्रकृति के विषय में बताते हैं) —वह पापी, चाण्डाल, रौद्र, भयङ्कर, घोरकर्मा, आरक्तनेत्र, अति कठोर, भयानक और विकीर्ण केशों से युक्त —दाढी वाला, पृथक् २ बडे २ दातों वाला, भिन्न २ मोटे २ हैं ओष्ठ जिसके, काली नागिन के समान बिखरे हुए हैं केश जिसके भ्रमर और राहुग्रह जैसा है कृष्णतम रंग जिसका, निर्दयी, अविवेकी, अकार्य करने से न झिझकने वाला, भय देने वाला, नृशस, नर-सहारक, अनुकम्पारहित, आदि २ दुर्गुणों से (वह विजय चोर) भरा पडा था।

ऊपर के पाठ मे चोर के विषय मे कहा गया है। ये बातें तो विजय चोर मे घटती थीं। अत जिस मनुष्य मे ये बातें घटें उसे ही चोर समझना चाहिये। अब तेरापथी बताए कि —क्या भगवान् महावीर का सच्चा उपासक श्रावक चोर कहलाने का हकदार है ? अगर नहीं तो तेरा पथियों को अपनी नीचता अभी से छोड देनी चाहिये।

हा इसमें एक बात और भी है कि—तेरापथी और श्रावकों मे उपरि लिखित चोर की उपमाओं मे से दो विशेषताए तो अब

श्य ही पूरी घटती हैं —(१) दया से रहित होना (२) अनुकम्पा से जीव बचाने में भी पाप कहना। अत निरनुकम्पी हैं। इसलिए तेरापंथियों को यह लिखना चाहिए था कि—तेरापंथी श्रावक कसाई और चोर होते हैं। अगर आचार्य जय गणी "श्रावक कसाई सरीखो" के आगे से तेरापंथी शब्द जोड देते तो एक तो बात सच्ची कही जाती और दूसरे हमें भी कोई आपत्ति न होती फिर तो सीधा गवर्नमेंट को सकेत कर दिया जाता कि तेरापंथी श्रावक कसाई और चोर के रूप में फिरते हैं, जिससे व्यवस्था बिगड़ने का भय है, अत इनका सुप्रबन्ध करना चाहिये। क्योंकि तेरापंथी अपने श्रावकों की चोरी बताते हुए भी बडे प्रसन्न होते हैं और चोर की बडी प्रशंसा करते हैं। देखिये—

'भ्रमविध्वसन' की प्रस्तावना में पृ० (१) पर लिखते हैं कि "एक कच्छ देशस्थ बेला ग्राम निवासी मूलचन्द कोलम्बी बड़ा तपस्वी और तत्वों का ज्ञाता श्रावक रहता था।
उस श्रावक ने समय पाकर किसी साधु के पुट्ठे में रक्खी हुई भ्रम विध्वसन की प्रति को रात के समय चुरा लिया।

यह तेरापंथी श्रावकों की तारीफ है कि वे साधुओं की चोरी करने में भी नहीं झिझकते। ठीक है पहले अपने घर पर चोरी करना सीखेंगे तो दूसरे के घरों पर हाथ साफ कर सकेंगे। किन्तु पाठक अब कुछ देर के लिये कुपात्र का विषय भी पढ़लें।

तेरापंथी साधु, साधू के सिवा सब को कुपात्र मानते हैं

कुपात्र को दान देना मांस भक्षण समान पाप बताते हैं। अत इन के कथनानुसार एकादश पडिमाधारी श्रावक भी कुपात्र हैं। जैसे कि भ्रमविध्वसनकार, पृ० १०४ पर एकादशपडिमाधारी श्रावक को आहार देने में एकान्त पाप बतलाते हैं।

परन्तु भगवान् ने समवायाङ्ग सूत्र में ऐसे श्रावक को श्रमण-भूत श्रावक कहा है। देखिये—

"समणभूए आवि भवइ"

(समवायाङ्ग सूत्र)

अर्थात् —प्रतिमासम्पन्न श्रावक साधु सदृश होता है। कारण —कि —प्रतिमासम्पन्न श्रावक को दशविधि साधु धर्म के अनुष्ठान करने और साधु की तरह भण्डोपगरण रखने की दशाश्रुतस्कन्ध में आज्ञा दी गई है। देखिये वह पाठ —

"अहा वरा एकारसमा उवासग पडिमा सव्व धम्मरुइय वि भवइ उद्दिट्ठभत्ते से परिण्णाते भवति। सेणं खुरमुण्डए वालुत्त सिर एवा गहित्तायार भडगनेपत्था। जे इमे समणाणं निग्गथाणं धम्मे त सम्म काएणं फासे माणे पाले माणे पुरतो जुग मायाए पेहमाणे दट्ठूण तसे पाणे उद्धट्ठ पायरीएज्जा, साहट्ठ पाय रीएज्जा, तिरिच्छेवा पाय कट्टु रीएज्जा सति पर कमे। सजयामेव परक्कमेज्जा णो उज्जुयं गच्छेज्जा॥

(दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, अ० ६)

अर्थ —अब एकादश प्रतिमाओं का वर्णन किया जाता है।

एकादश प्रतिमाधारी श्रावक को पूर्व प्रतिमा के भी सब धर्मों में रुचि रखनी चाहिये। अपने निमित्त बना हुआ भोजन न लेना चाहिये। केशों का लुञ्चन या क्षुर मुण्डन कराकर श्रमण निर्ग्रन्थों के सदृश आचार-पालनार्थ पात्र, रजोहरण, और मुख वस्त्रिका आदि सभी धर्मोपकरणों को अपने पास रखना चाहिये। श्रमण निर्ग्रन्थों जैसा ही वेश पहनकर श्रमण निर्ग्रन्थों के सभी धर्मों का शरीर से स्पर्श और पालन करना चाहिये। यदि मार्ग में त्रस प्राणी दृष्टि गोचर हों तो उनकी रक्षा के लिये अपने पैर के पूर्व भाग को ऊँचा करके अग्रतल की सहायता से गमन करना चाहिए। अथवा जहा त्रस प्राणी न हों वहा पर पैर रख कर जाना चाहिये तात्पर्य यह है कि —मार्ग के प्राणियों की रक्षा के लिये कभी पैर को सकुचित कर और कभी एड़ी के ऊपर अपने सम्पूर्ण शरीर का भार देकर चलना चाहिये। अविवेक से नहीं चलना चाहिये। यह बात भी वहा के लिये कही गई है जहा गमनार्थ अन्य कोई मार्ग न हो। जहा दूसरा मार्ग विद्यमान हो तो इस प्रकार के प्राणि सकुल मार्ग पर से जाना उचित नहीं।

इस पाठ से स्पष्ट प्रकट है कि —एकादश प्रतिमा धारी श्रावक दशविध यतिधर्मों का पूर्ण रूपेण पालन करने वाला बड़ा ही पवित्रात्मा और सुपात्र होता है। ऐसा श्रावक को भी कुपात्र कहना और व्रतपारण के दिन इनको आहार देने में भी एकान्त पाप बताना अधिक से अधिक अनर्थ करना है। क्योंकि — अगर श्रावक को आहार देना और ऐसे श्रावक का आहार करना

भी एकान्त पाप में शामिल है तो भगवान् ने श्रावक के आहार आदि लाने का विधान कैसे कर दिया? तेरापथीय सिद्धान्तानुसार आहार देने वाला श्रावक और प्रतिमाधारी श्रावक लेने वाला तथा उसे खाने वाला पाप ही पाप करता है। परन्तु —भगवान् उसके लिये आहार आदि लाने की प्रणाली बताते हैं —एकादशप्रतिमाधारी श्रावक को ऐसे आहार लाना चाहिये। यथा —

"तस्सण गाहावइ कुल पिंडवाय पडियाए अणुपविट्ठस्स कप्पति एव वदित्तए "समणो वासगस्स पडिमा पडिवन्नस्स भिक्ख दलयह"। त चेव एयारूवेण विहारेण विहरमाणेण कोइ पासित्ता-वादज्जा "केइ आउसो तुम वतव्व" सिया। सणं गया रूवेण विहारेण विहरमाणे जहन्नेण एगाहवा दुयाहवा तियाहवा उक्कोसेण एकादस मासे विहरज्जा ॥

(दशाश्रुतस्कन्धसूत्र)

अर्थ —एकादश प्रतिमाधारी श्रावक को गृहस्थी के घर मे आहार लाने के लिये प्रविष्ट होते समय ऐसे बोलना चाहिये, कि —"प्रतिमासम्पन्न श्रावक को भिक्षा दो" इस प्रकार के विहार से विचरते हुए उसको देखकर यदि कोई गृहस्थी पूछे कि —आयुष्मन्! तुम कौन हो? तब उसको कहना चाहिये कि —"मैं प्रतिमा सम्पन्न श्रमणोपासक हू"। यही मेरा स्वरूप है। इस प्रकार वह श्रावक—जघन्य एक, दो या तीन दिन उत्कृष्ट एकादश मास पर्यन्त विचरता रहे। श्रमणोपासक की यही एकादशवीं प्रतिमा है। यही स्थविर भगवान् ने कही है।

इस पाठ मे और इमसे पहले पाठ मे श्रावक के वेश आदि और गोचरी आदि लाने का भगवान् ने विधान किया है। तेरापंथियों की मान्यताऽनुसार ऐसे उत्कृष्ट धर्मी और श्रमणभूत श्रावक को भी आहार देना एकान्त पाप है, तो समझना चाहिए कि —

भगवान के धर्म का विरोधी कोई निन्हव फिर संसार में पैदा हो गया है। वह स्वयं कुपात्र होता हुआ दूसरे सुपात्रों को भी कुपात्र भाव मे से घसीटना चाहता है।

अरे तेरापंथियो! तुम्हारी पोल कब तक छुपी रहेगी, कुछ तो धर्मकुल की लाज रखो? चतुर्विध (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) संघ ही पात्र है। उसे कुपात्र कहना अपनी नीचता का नग्न नर्तन करना है॥

—— ❀ ——

"विषैली धृष्टता"

ससार में मातृत्व भी एक गौरव का स्थान है। माता वात्सल्य की मूर्ति है, धर्म की शिक्षिका है, अत वह हर समय आदरणीय है। परन्तु तेरापथी सज्जन क्या कहते हैं, वह भी सुनिये —

"माता ने वेश्या सरीखी मानीं"

(भिक्षु जश रसायण, पृ० ५६ गा० ७)

अर्थात्—माता और वेश्या एक समान हैं।

कितने ज्ञान की बात कही। माता को वेश्या कहकर अपनी बुद्धिमत्ता का कितना अनोखा परिचय दिया है। क्या दुनिया मे ऐसा भी कोई आदमी है जो सीता, दमयन्ती आदि सच्चरित्र सतियों को वेश्या कहने का दुस्साहस कर सकता हो। उपासक दशाङ्ग सूत्र मे माया को, भगवान् का अनन्य भक्त जीवाजीव का ज्ञाता चूलणी पिया क्या कहता है पढिये —

'मे माया देव गुरु जननी'

अर्थात्—मेरी माता मेरी पूज्य है क्योंकि वह पूज्य होने से

देवता स्वरूप है, सदुपदेश देने से और हित चिन्तक होने के कारण गुरु है और जन्म देने से जननी तथा गर्भ के धारण, लालन, पालन आदि दुष्कर से दुष्कर कार्य करने से माता है। माताएं ऐसी होती हैं।

लज्जा की बात है कि जिन माताओं को श्राविका की पदवी देना, तीर्थ की अङ्गभूत मानना और उन्हें ही वेश्या बना डालना! क्या इनका पथ कसाई और चोर तथा वेश्याओं से ही भरा हुआ है?

जहां भारतीय संस्कृति जननी और जन्मभूमि के सामने स्वर्ग को भी तिलाञ्जलि दे देती है, वहां तेरापथी इन्हें भी अशब्द कहकर अपना मन शान्त कर लेते हैं। परन्तु उन्हें ऐसा करना नहीं चाहिये। माता के साथ ऐसा निष्ठुरतम व्यवहार करते समय उन्हें यह श्लोकार्ध दृष्टिगोचर रखना चाहिये—

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

उन्हें पथ के जोश में आकर राष्ट्र और धर्म को नहीं भुलाना चाहिये।

—:*:—

"माता-पिता की सेवा में पाप"

भगवान् जब माता त्रिशलादेवी के गर्भ म थे तो उनके मन मे उस समय भी माता की सेवा करने के भाव हिलोरें ले रहे थे। उन्होंने माता के दुःख को दूर करने के लिये अपना अङ्ग सञ्चालन बन्द कर दिया था, जिसका परिणाम स्वरूप माता का कष्ट तो मिट गया किन्तु गर्भ के क्षय की भ्रान्ति उसके मन को अधिकाधिक सताने लगी। अत भगवान् को फिर अपना अङ्ग सञ्चालन करना पड़ा था। और भगवान् के हृदयपटल पर उस दिन मातृ प्रेम की ऐसी अक्षुण्ण छाप पड़ी कि जिससे उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक मेरे माता-पिता जीवन वास करेंगे तब तक मैं दीक्षा धारण नहीं करूँगा। भगवान् ने माता-पिता की वत्सलता को खूब झाक कर देखा और अनुमान किया कि माता-पिता की अपने पुत्र पर कितनी २ गहरी आशायें लगी होती हैं। उन्हें पूरा करना कुछ न कुछ तो पुत्र का कर्त्तव्य होना ही चाहिये। भगवान् ने गृहस्थ में रहते हुए माता-पिता की सेवा करके हमारे लिये आदर्श उपस्थित कर रखा है।

भगवान् ने ठाणाङ्ग सूत्र मे तीन मनुष्य महा उपकारी बत-

देवता स्वरूप है, सदुपदेश देने से और हित चिन्तक होने के कारण गुरु है और जन्म देने से जननी तथा गर्भ के धारण, लालन, पालन आदि दुष्कर से दुष्कर कार्य करने से माता है। माताएं ऐसी होती हैं।

लज्जा की बात है कि जिन माताओं को श्राविका की पदवी देना, तीर्थ की अङ्गभूत मानना और उन्हें ही वेश्या बना डालना। क्या इनका पथ कसाई और चोर तथा वेश्याओं से ही भ हुआ है?

जहां भारतीय संस्कृति जननी और जन्मभूमि के साम स्वर्ग को भी तिलाञ्जलि दे देती है, वहां तेरापंथी इन्हें भी श शब्द कहकर अपना मन शान्त कर लेते हैं। परन्तु उन्हें ऐ करना नहीं चाहिये। माता के साथ ऐसा निष्ठुरतम व्यवहा करते समय उन्हें यह श्लोकार्ध दृष्टिगोचर रखना चाहिये—

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'

उन्हें पंथ के जोश में आकर राष्ट्र और धर्म को नहीं भू जाना चाहिये।

—:*:—

"माता-पिता की सेवा मे पाप"

भगवान् जब माता त्रिशलादेवी के गर्भ म थे तो उनके मन में उस समय भी माता की सेवा करने के भाव हिलोरें ले रहे थे। उन्होंने माता के दुःख को दूर करने के लिये अपना अङ्ग सञ्चालन बन्द कर दिया था, जिसका परिणाम स्वरूप माता का कष्ट तो मिट गया किन्तु गर्भ के क्षय की भ्रान्ति उसके मन को अधिकाधिक सताने लगी। अत भगवान् को फिर अपना अङ्ग सञ्चालन करना पड़ा था। और भगवान् के हृदयपटल पर उस दिन मातृ प्रेम की ऐसी अक्षुण्ण छाप पडी कि जिससे उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक मेरे माता-पिता जीवन वास करेंगे तब तक मैं दीक्षा धारण नहीं करूँगा। भगवान् ने माता-पिता की वत्सलता को खूब झाक कर देखा और अनुमान किया कि माता-पिता की अपने पुत्र पर कितनी २ गहरी आशायें लगी होती हैं। उन्हें पूरा करना कुछ न कुछ तो पुत्र का कर्त्तव्य होना ही चाहिये। भगवान् ने गृहस्थ में रहते हुए माता-पिता की सेवा करके हमारे लिये आदर्श उपस्थित कर रखा है।

भगवान् ने ठाणाङ्ग सूत्र मे तीन मनुष्य महा उपकारी बत-

कहते हैं। कितना अन्तर है भगवान् के वचन में और तेरा पन्थियों के कपोलकल्पित सिद्धान्त में ? जितना पृथ्वी और आकाश में। इतना होते हुए भी तेरापंथी अपने आपको उनकी आड़ में छुपाकर बात बनाते हैं। समय मिलने पर उन्हें 'रागी 'मोही' आदि कहकर बदनाम भी कर देते हैं। और उनके स्थान पर भीखन और तुलसीराम को भगवान् बना डालते हैं। यह धोका है, तेरापथी अपने आप को जैन कहकर समाज को धोके में फसाना चाहते हैं। वास्तव में यह इनकी कृतघ्नता है।

"दया के नाशक"

ससार मे सब प्रकार के प्राणी हैं, अच्छे भी और बुरे भी। दयालु से दयालु और पापी से पापी भी। परन्तु ऐसे निराले मिमाग के मनुष्य मनुष्य नहीं, किन्तु मनुष्यता के हत्यारे हैं, जो दया माता के प्राण लेने पर ही उतारु हों। धर्म का मूल दया है, सज्जनता का लक्षण दयालुता है, भगवान् का उपदेश दया है, मा०ण (साधु) का उद्देश्य (मा-मत, हणमार) जीवदया है, हृदय की उपज है, कल्याण की सीढ़ी है, नाग-नागिन को धरणेन्द्र पद्मावती बना देना भगवान् पार्श्वनाथ की लोकोत्तर दया का ही चमत्कार है, दया जीवन का सार है, एक कबूतर की दया ने मेघरथ राजा को तीर्थङ्कर गोत्र दे डाला।

भगवान् नेमनाथ जी ने दीन, अनाथ पशुओं की रक्षा के निमित्त अपने विवाह को भी तिलाञ्जलि दे दी, यह सब कुछ दया का ही अपूर्व चमत्कार है। दया का कितना भी गुण वर्णन किया जाय, वह एक शक्तिधर ज्योति है, जिसके उदय होने पर प्राणी नर से नारायण बन जाता है, और भक्त से भगवान्।

देखिये ! जैनागम के कहने का उद्देश्य भगवान् ने संसार के समस्त जीवों की रक्षा करना और दया करना ही रखा है। जैन धर्म का उद्देश्य ही —प्राणी की प्राण रक्षा करना है। जिस कार्य को भगवान् परम धर्म कहते हैं उसे ये (तेरापंथी) एकान्त पाप का कार्य बतलाते हैं। जैन धर्म के नाम से इस तरह मिथ्या भाषण करना कितना गहरा दयाधर्म का अपमान करना है! अन्य तीर्थी का धर्म बतलाना दया का नाश करना है। देखिये तीर्थ प्रवर्त्ताने का उद्देश्य —

"सव्व जग जीव हिय अरह तित्थ पव्वत्ते हि" ॥

(आचाराङ्ग सूत्र, अ० २४, गा० ६)

अर्थात् —जिस समय भगवान् दीक्षा लेने लगते हैं, उस समय लौकान्तिक देवता भगवान् के पास आकर प्रार्थना करते हैं कि —हे अरिहन्त देव! सब जगत् के जीवों के कल्याण के लिये (रक्षा के निमित्त अथवा हित के लिये) तीर्थ प्रवर्त्ताओ।

तीर्थ प्रवर्त्ताने में भी जगत् के सब जीवों का कल्याण ही निहित होता है। क्योंकि —तीर्थङ्कर देव अपनी आत्मा के कल्याण के बाद संसार के कल्याण का उद्देश्य सम्मुख रखकर दया धर्म का प्रचार करते हैं। अब आप देखिये कि —जैन धर्म की अहिंसा क्या वस्तु है?

"तत्थ पढम अहिंसा तस थावर सव्वभूय खेमकरी" ॥

(प्रश्न व्याकरण सूत्र)

अर्थ —सब से प्रथम अहिंसा धर्म है, जो त्रस और स्थावर तथा सर्व जीवों के क्षेम और शान्ति चाहने से पालन होता है। यत —अहिंसा सब त्रस और स्थावर जीवों को क्षेम और शाति प्रदान करती है। अत त्रस और स्थावर जीवों की शान्ति चाहने के विना अहिंसा का पालन नहीं हो सकता ॥ जो तेरापथी यह कहते हैं कि "भगवान् ने प्राणी की प्राण रक्षा के लिये तथा जीवों की शान्ति के निमित्त उपदेश नहीं दिया, परन्तु उन्होने तो तारने के लिये उपदेश दिया है। क्योंकि – शान्ति और रक्षा के लिये उपदेश देना एकान्त पाप करना है"। किन्तु तेरापथियों को यह तो सोचना चाहिये कि —शान्ति और रक्षा किये बिना भी कभी किसी का कल्याण हुआ है? जब तक किसी के हृदय में शाति का सचार ही नहीं तथा रक्षा करने के भावों का सर्वथा ही लोप है तो उसका तरना कैसे सम्भव है रक्षा तथा दया किये विना किसी का भी कल्याण नहीं हो सकता। इन बातों की उलझन में तेरापंथी संसार को चकमा देना चाहते हैं। परन्तु ऐसा होना असम्भव होगा। जब तक हमारे पास सूत्रों का ज्ञानालोक (ज्ञान रूपी प्रकाश) विराजमान है—तब तक वे समाज को अपने झाँसे में नहीं फँसा सकते। देखिये —भगवान महावीर स्वय त्रस और स्थावर जीवों की क्षेम-कुशल चाहते थे। यथा —

"समिन्च लोगत्तस थावराणा खेमंकरे समणे माहणे या आइक्खमाणोऽवि सहस्स मज्झे एगतय सारयति तहच्चे"

(सुयगडाग सूत्र, अ० २२, गा० ४)

अर्थ —हे ! देवानुप्रिय आप यदि प्रदेशी राजा को धर्म सुनावें तो बहुत गुणयुक्त फल हो। गुणयुक्त फल स्वय राजा को हो, और राजा प्रदेशी के हाथो से मारे जाने वाले बहुत से द्विपद् (मनुष्य) चतुष्पद् (हाथी, घोड़ा आदि चार पैर वाले) मृग, पशु, वनचर आदि को, पक्षी, तित्तर,बटेर आदि को और सरीसृपो (सांपों) का, बहुत गुणयुक्त फल हो। अर्थात् — उनके प्राण बच सकेंगे और उन्हें शान्ति मिलेगी। हे ! देवानुप्रिय यदि आप राजा प्रदेशी को न्यायमय निर्ग्रन्थ धर्म सुनावें तो बहुत से साधु-सन्यासियों को तथा गृहस्थों और भिक्षुकों को, और राजा प्रदेशी को बहुत गुण युक्त फल हो। अर्थात् —असख्य प्राणियों की प्राण-रक्षा करने मे राष्ट्र मे हिंसक वृत्तियों का दमन होगा। और समस्त प्रजाजन म सद्भावना उत्पन्न होगी।”

इस मूल पाठ मे राजा प्रदेशी को धर्म सुनाने से राजा प्रदेशी और उसके हाथो से मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु पक्षी और सरीसृप आदि सब के लिये ही गुणयुक्त फल का होना कहा गया है। इसका भाव यह है कि —राजा प्रदेशी को धर्म सुनाने से वह हिंसा करनी छोड़ देगा अत वह तो हिंसा के पाप से बच सकेगा। और उसके हाथ से मारे जाने वाले द्विपद आदि प्राणियों की प्राण-रक्षा हो सकेगी। इसलिये राजा प्रदेशी को तो हिंसा के पाप से बचने का गुण है। और उसके हाथ से मारे जाने वाले प्राणियों के प्राणों की रक्षा हो जाना ही गुण है। इन दोनो के लाभ के लिये चित्त प्रधान ने चार ज्ञान के

पारक श्रमण केशीकुमार से प्रार्थना की कि—महाराज! राजा प्रदेशी को धर्म सुनावें।

इस पाठ से यह सिद्ध होता है कि—साधु महात्मा केवल हिंसा के पाप से बचाने के लिये ही धर्मोपदेश नहीं देते, अपितु प्राणियों की प्राण रक्षा के लिये भी धर्मोपदेश देते हैं।

अगर कोई कहे कि—यह प्रार्थना तो गृहस्थी ने की है। गृहस्थी कैसे ही क्यों न करदे उसे सब प्रकार से छूट है। अत उससे प्राणी की प्राण रक्षा करना सिद्ध नहीं होता।

उत्तर—चित्त प्रधान कोई साधारण मनुष्य नहीं था। उसके धार्मिक ज्ञान की भगवान् ने भी बडी प्रशसा की है। वह द्वादश व्रतधारी जीवाजीव और पुण्य, पाप का ज्ञाता था। वह हेयोपादेय को जानता था। ऐसा भगवान् ने फरमाया है। ऐसा मनुष्य पापकारी प्रार्थना कभी भी नहीं कर सकता और न ही केशी स्वामी उसकी प्रार्थना स्वीकार करते। परन्तु केशी कुमार श्रमण ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की और मार्ग के भयानक कष्टों को पार करके श्वेताम्बिका नगरी में गये। जाकर प्रदेशी राजा को जीव-रक्षारूप परम धर्म का गूढ रहस्य समझाया।

तेरापथी बताए कि—वे जीव बचाने में पाप किस सिद्धान्तानुसार कहते हैं। भगवान ने जो ज्ञाता सूत्र में फरमाया है कि—

एक सहे की रक्षा करने से तथा अन्य जीवों की अनुकम्पा

करने से मेघ कुमार ने हाथी के भव में संसार परित्त (परमित) किया। और मनुष्य की आयु का बन्ध किया तथा सर्व प्रथम सम्यक्त्व की उपलब्धि की। यथा —

"तएण तुमं मेहा! गायं कण्डुइत्ता पुण रवि पायं पडिणि क्खमिस्सामीति कट्टु तं ससयं अणुपविट्ठं पासइ पासइत्ता पाणानुकम्पयाए, भूयाणुकम्पयाए, जीवाणु कम्पयाए, सत्ताणु कम्पयाए, से पाए अन्तरा चेव संधारिए णो चेवणं णिक्खित्ते॥

तएणं तुमं मेहा! ताए पाणानुकम्पायाए जाव सत्ताणुकम्प याए, संसार परितीकए मणुस्साउ ए णिबन्धे।

त जइ तार तुम मेहा तिरिक्ख जोणिय भाव मुवागएणं अपडिलद्ध सम्मत्तरयणं लभेण से पाए पाणानुकम्प पाए जाव अन्तरा चेव संधारिए॥ (ज्ञाता सूत्र अ० १)

अर्थात्—हे मेघ! तूने शरीर के अंग को खुजलाकर अपने पांव को नीचे रखने का विचार किया। किन्तु जब तूने पैर रखना प्रारम्भ किया उस समय तुझे पैर से किसी कोमल वस्तु के स्पर्श का अनुभव सा हुआ। जब तूने दृष्टि डालकर देखा तो तुझे विदित हुआ कि—मेरे पैर रखने वाली जगह पर एक शशक बैठा है। तूने विचार किया कि—इस निर्बल शशक को मारे मण्डल में कोई जगह नहीं मिली होगी, अतः यह भयभीत सा होकर मेरे पैर वाले रिक्त स्थान पर बैठ गया है। अब मेरा धर्म यही है कि—इसकी प्राण रक्षा करूं। यह मेरी शरण में आ-

चुका है। हाथी के हृदय मे करुणा की गगा बह निकली। हे मेघ! माता दया तेरे अन्तस् के अणु २ प्रदेश के द्वार पर खटखटाने लग पड़ी। तूने उस शशक पर तो अनुकम्पा की ही, साथ मे उन सब सत्व, भूत, जीव और प्राणियों की रक्षा भी अन्तःकरण से की। उन प्राणियों और उस निर्बल से प्राणी शशक के लिये शारीरिक मोह को त्याग दिया स्वार्थ को तिलाञ्जलि दे दी। शशक की मूक और हृदय विद्रावक पुकार तूने अपनी पुकार समझी। निःस्वार्थ भाव से प्राणी की प्राण रक्षा करना तूने अपना परम धर्म समझा और उसके लिये तूने अपना प्यारा जीवन उत्सर्ग कर दिया। जब तूने इस गूढ रहस्य को सम्यक् समझ लिया कि —"अपना पैर सहे पर रख देना या क्रूरता से खून कर देना अपनी आत्मा का खून कर देना है, तो तेरे जन्म--जन्मान्तरों की उलझी हुई गुत्थी कुछ ही क्षणों मे सुलझ गई। तेरा वह भारी पैर ऊपर ही खडा रहा। तेरा शरीर दु खित था। तीव्र चीसें पडती थीं, अङ्ग-प्रत्यङ्ग टूटता था परन्तु तूने कुछ भी ध्यान न दिया। तेरा ध्यान सदा उसकी रक्षा करने मे लगा रहा। अन्त मे वह पैर अपनी चेतना शक्ति के साथ सम्बन्ध तोड़ बैठा, अकड गया किन्तु तू निश्चिन्त खड़ा रहा। जब तक दावानल बन की लकड़ियों की धाँय धाँय करके फूकता रहा, तब तक तू प्राणियों की, जीवों की व सत्वों की तथा उस सहे की अपना पैर ऊपर उठाकर अनुकम्पा तथा रक्षा करता रहा। उस अनुकम्पा के फल से तूने ससार को

परित्त किया और मनुष्य की आयु बाधी ।

अहो मेघ ! जब तू तिर्यञ्च योनि में था उस समय तुझे अपूर्व—तथा अलभ्य वस्तु प्राप्त हुई। वह था सम्यक्त्व रत्न जो तुझे प्राप्त हुआ। जब तूने प्राणियों की अनुकम्पा के लिये अपना पैर बीच में ही उठा रखा था, उस समय तुझे प्रथम सम्यग्दृष्टि प्राप्त हुई।

ठीक भी है, संसार में ऐसे ही जीव पार उतर सकते हैं। जो अपने शरीर की परवाह न करते हुए प्राणियों की रक्षा करें। परन्तु जो लोग जीव रक्षा में पाप समझते हैं उन्हें यह शास्त्र का मूल पाठ देख लेना चाहिये। और साथ में ही चुल्लूभर प्रासुक पानी में अपनी निर्दयी आखें डुबो कर अपना चेहरा देखना चाहिये। देखो तो सही, मुह पर कितने काले २ बादल उड़ रहे हैं। किस प्रकार गिरगिट की तरह चेहरा रग बदल रहा है। अरे ! ससार भर के निर्दयियो ! क्यों भोली जनता को फुसला कर पाप के गट्ठड़ बाध रहे हो ? क्यों कुतर्कें लड़ा २ कर अपना हीरा जन्म बरबाद कर रहे हो। देखिये कुतर्क का नमूना — तेरापंथी —उस हाथी ने अपनी आत्मा की अनुकम्पा करी। अपनी आत्मा को पाप से बचा लिया, उस शशक (सहे) पर दया नहीं करी। अगर दया करता तो दावानल में से भागते फिरते प्राणियों को सूंड में पकड़ २ लाता। यथा —

"कष्ट सह्यो तिण पाप से डरतो, मन दृढ़ सेंठि राखी तिणकाय
बलता जीव दावानल देखी सूंडसूं ग्रही ग्रही बाहिरे न लाया॥ १
(भीखन कृत, अनुकम्पा ढाल)

इस पद्य का भाव ऊपर दिया गया है।

"भीखन जी ने यह अपभाषण किया है कि —दावानल में जलते हुए जीवों को सूंड से क्यों नहीं पकड कर लाया जबकि उसने दूसरे जीवों की ही अनुकम्पा करनी थी।

उत्तर —उसने आग मे जलते हुए जीव देखे और उन्हें उस हाथी ने नहीं बचाया" इस बात का भी भीखन जी के पास यदि कोई प्रमाण हो तो दिखाना चाहिये। यदि नहीं तो इस प्रकार असत्य अपभाषण अनुचित है। वास्तव मे उसने आग मे जलता हुआ जीव कोई नहीं देखा, अगर देखता तो अवश्य अपने प्राण-पण से भी बचाता क्योंकि —वह वन मण्डल चार कोस मुरब्बा था। जो कि वनचर जीवों से परिपूर्ण और खचाखच भरा हुआ था। जिनके मध्य मे मेघकुमार का जीव हाथी के रूप मे खडा था। आस पास के सब के सब बनैले वनचर जीव वहां शान्तता से खड़े हुए थे। एक शशक (सहा) जिसे कहीं भी स्थान नहीं मिलता था। उछलता कूदता हाथी के पैर वाली जगह खाली समझ कर वहां पर आकर बैठ गया और उस हाथी ने उसकी रक्षा के लिये अपने पैर को ऊपर उठा रखा। अगर तेरापंथी फिर भी उसे यही कहें कि —उसने अपनी ही अनुकम्पा

करी है, सहे की नहीं तो तेरापथियों को यह ध्यान से देख लेना चाहिये कि —शास्त्र के मूल पाठ मे "अपनी अनुकम्पा" का निर्देश एक भी अक्षर अगर आया हो तो ठीक है नहीं तो उन्हें कि अपने अपने मुँह की खानी पड़ेगी। क्योंकि —शास्त्र मे तो स्पष्ट है कि हे मेघ! तू ने सहे की और अन्य प्राणियों की अनुकम्पा करी थी। इसलिये तू ने ससार परित्त किया और मनुष्य की आयु बांधी। तेरापथियों को मूलपाठ पढ कर भी ऐसे अनर्थ नहीं करने चाहिये। यत —अनर्थ करना पाप का सचय करना है।

द्वितीय कुतर्क

तेरापथी —अगर उस हाथी ने शशक की रक्षा करनी थी या अनुकम्पा करनी थी तो उसे सूड से पकड़ कर अपने कन्धे पर, या शिर पर, अथवा पीठ पर बिठा लेना चाहिये था। किन्तु उसने ऐसा किया नहीं। अत उसने शशक की अनुकम्पा नहीं करी, अपितु उसने अपनी ही अनुकम्पा करी है।

उत्तर —बात तो तेरापंथियों की सही है, किन्तु तेरापंथी यह तो बताए कि —अगर वह सूड से उठा लेता, और मार्ग में वा शशक अचानक सूड से छूट जाता, अथवा शशक स्वय ही सूंड में फस कर भयभीत हुआ प्राण त्याग बैठता, अथवा सूड से ही दब कर पकड़ा जाता और उसका प्राणान्त हो जाता तो क्या हम पाप के जुम्मेवार तेरापथी होते? अरे! ये बातें तो हाथी ने भी खूब मानी होंगी, परन्तु सब से बढ़ कर उसकी रक्षा का यही उपाय था। बेशक उसकी रक्षा के लिये उसे अपना शरीर

ही वलिदान कर देना पडा। तभी तो वह इस दुस्तर संसार से पार हो गया। अगर तेरापंथियों जैसे महानुभाव उसे मिले होते तो उसे पूरा निर्दयी बनाकर छोड़ते। परन्तु उसे तो स्थानक वासी साधुओं की संगति और दयामय उपदेश याद आगया था अत तेरापंथियो जैसा निर्दयी कैसे बन जाता ? (दूसरा प्रमाण)

देखिये —दान को तो तेरापंथी भी दश प्रकार का ही मानते हैं। किन्तु उन दस दानों मे से एक धर्म दान को छोडकर शेष सर्व दानों को अधर्म और पापकारी गिनते है। न जाने यह दान-भेद समझ कर भी तेरापंथियो की बुद्धि पर पीछे से क्या पत्थर पड जाते हैं। देखिये —

"दशविहे दाणे पण्णत्ते त जहा —
अनुकम्पा सग्गहे चेव, भए कालुणिए एत च।
लज्जाए गार वेणं च, अधम्मे पुण सत्तमे।
धम्मे त अट्ठमे वुत्ते, काहती ति कतति त॥
(ठाणाङ्ग सूत्र, ठाणा १० उ० ३)

अर्थ —दान दस प्रकार के होते हैं —

(१) अनुकम्पा दान, (२) सग्रह दान, (३) भय दान, (४) कारुण्य दान, (५) लज्जा दान, (६) गौरव दान, (७) अधर्म दान, (८) धर्म दान, (९) करिष्याति दान, (१०) कृत दान।

इन दानो के विषय मे पाठक पहिले भ्रम विध्वस का मत पढलें। जैसे कि —उन्होंने भ्रम विध्वसन पृ० ७६ पर लिखा —

"अथ इहा दश प्रकार रा दान कह्या, तिणमे धर्मदान री

आज्ञा छै। ते निरवद्य छै। बीजा नव दान री आज्ञा न देवे ते माटे सावद्य छै। एव नव दाना मे धर्म-पुण्य मिश्र नहीं छै"

इनका आशय यह है —कि इन दश दानों मे एक धर्म दान ही भगवान् की आज्ञा मे है। वह ही पुण्योत्पादक है। और शेष नव दानो मे एक मात्र पाप ही पाप है। पुण्य या धर्म आदि मिश्र नहीं हैं। धर्म दान ही पुण्य क्षेत्र है। शेष नव-दान पाप क्षेत्र हैं।

इस विषय मे स्वय कुछ कहने से पहले मैं "सद्धर्म मण्डन" की उक्तियां और युक्तियां दे देना अच्छा समझता हूँ। देखिये—

"धर्म दान को छोड़कर शेष नव दानों को अधर्म दान मे गिनना शास्त्र विरुद्ध है। शास्त्रकार ने दश ही दानों का परस्पर विलक्षण और एक मे दूसरे का समावेश न होना बतलाया है। यदि धर्म दान को छोड़कर शेष नौ दान अधर्म दान के भेद होते तो शास्त्रकार यह लिखते कि —'दुविहे दाणे पण्णत्ते त जहा— धम्मे दाणे चेव अधम्मे दाणे चेव'। यह लिखकर पश्चात् अनु कम्पा आदि दानों का अधर्म दान मे समावेश कर देते, परन्तु ऐसा न करके शास्त्रकार ने जो दान के दस भेद बताए हैं, इससे अनुकम्पा आदि दानो का पार्थक्य स्वय सिद्ध हो जाता है। दूसरी बात यह है कि —इन दस दानों के नाम गुणानुसार रखे गये हैं। इस बात को तो भीखन जी ने भी स्वीकार किया है। जैसे कि उन्होंने लिखा है —

"दश दान भगवत भापिया सूत्र ठाणाङ्ग माय।
गुण निष्पन्न नाम छै तेहनो, भोलॉने खबर न काय॥
(भीखनजी)

इस पद्य मे दश दानों का गुणानुसार नाम होना स्वय भीखन जी ने भी स्वीकार किया है। ऐसी परिस्थिति मे धर्म दान को छोडकर शेष नौ दानो को अधर्म-दान मे वतलाना जीतमल जी का अपने गुरु के साथ विरोध करना है।

जो लोग एक धर्मदान को छोडकर शेष नौ दानों को अधर्म मे गिनते हैं उनसे कहना चाहिये कि —जो दान भक्ति भाव से प्रत्युपकार' की आशा के बिना पचमहाव्रतधारी साधु को दिया जाता है, मुख्य रूप से वही एकान्त धर्म दान है। परन्तु जो लज्जावश या अनुकम्पा से साधु को दिया जाता है वह दान-दाता के परिणामानुसार मुख्य रूप से लज्जा दान और अनुकम्पा दान है। यह दान धर्म-दान से कथंञ्चित् भिन्न है। क्योंकि इसमे दाता का परिणाम लज्जा और अनुकम्पा भी है। अत तेरा-पथियों की मान्यताऽनुसार इस दान का फल अधर्म ही होना चाहिये। यदि कहो कि —"किसी भी परिणाम से साधु को दान देना एकान्त धर्म दान है, इसलिये उक्त दानों का फल अधर्म नहीं है। *तो नाग श्री ब्राह्मणी ने मुनि को मारने के परि-*णाम से कडुआ तुम्बा का शाक दिया था और साहूकार की स्त्री ने विषयभोग कराने की लालसा से अर्णक मुनि को मोदक दिये

थे फिर इन दानों का फल भी अधर्म न होना चाहिये। यदि कहो कि —नागश्री ने मुनि को मारने के परिणाम से और साहूकार की स्त्री ने मुनि को भ्रष्ट करने की इच्छा से दान दिया था, इसलिये उनके दान उनके परिणाम अनुसार अधर्म-दान थे धर्मदान नहीं, तो उसी तरह यह भी समझो कि —जो दान लज्जावश या अनुकम्पा करके मुनि को दिया जाता है वह भी दाता के परिणाम अनुसार लज्जादान और अनुकम्पा दान ही है तुम्हारे सिद्धान्त अनुसार इन दानो मे भी अधर्म ही होना चाहिये था। परन्तु यह शास्त्र सम्मत नहीं है। अत इन दोनों दानों मे भी दाता के परिणाम अनुसार धर्म ही होता है। अतः धर्म-दान को छोड़कर शेष नौ दानों को अधर्म में कायम करना अज्ञानता है। क्योंकि —भगवान् ने तो अनुकम्पा दान साधु के लिये भी फरमाया है। देखिये सूत्र प्रमाण —

"अणुकम्प पडुच्च त ओ पडिणीया पएणत्ता त जहा।
तवस्सि पडिणीए, गिलाण पडिनीए, सेह-पडिणीए"॥
(ठाणाङ्ग सूत्र, ठाणा ३ उद्देशा ४)

अर्थात —तीन मनुष्य अनुकम्पा करने योग्य होते हैं: तपस्वी साधक, रोग आदि से ग्लान और नवदीक्षित शिष्य इनकी अनुकम्पा अगर साधु न करे और न करावे तो वह वैरी समझा जाता है।

इस पाठ के अनुसार उपरोक्त तीन पुरुषों को भी जो साधु अनुकम्पा-दान नहीं देता वह वैरी समझा जाता है परन्तु तेरा

पथी मत-अनुसार तो यह अनुकम्पा-दान भी अधर्म मे शामिल है, अत इसे करना पाप-सचय करना है किन्तु भगवान् आज्ञा देते हैं कि —अगर साधु इनकी अनुकम्पा न करे अर्थात् — इन्हें अनुकम्पा दान न दे तो साधु वैरी समझा जायगा। अत अन्त मे तेरापथ के सिद्धान्त को हेय ही समझना पडेगा। क्योंकि भगवान अनुकम्पा-दान का फल साता वेदनीय कर्म का बन्ध होना बतलाते हैं —और अनुकम्पा न करने से असाता वेदनीय कर्म का बन्ध होता है ऐसा फरमाते हैं। अनुकम्पा करने में पुण्य और न करने मे एकान्त पाप। देखिये पाठ प्रमाण —

"अत्थिण भते। जीवाण साया वेयणिज्जा कम्माकज्जन्ति ? हन्ता अत्थि। कहण्ण भते! साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जन्ति। गोयमा! पाणाणुकम्पयाए, भूयाणुकम्पयाए, जीवाणु कम्पयाए, सत्ताणुकम्पयाए, बहूण पाणाण जाव सत्ताण अदुक्खणयाए, असोयणयाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए, अपिट्टणाए, अपरियावणयाए, एव खलु गोयमा! जीवाणा साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जन्ति॥ (भगवती सूत्र श० ७ उ० ६)

अर्थ —अहो भगवन्! क्या जीव साता वेदनीय कर्म का उपार्जन किसी उपाय से करता है? हा गोतम! मनुष्य सातावेदनीय कर्म का उपार्जन करता है अहो भगवन! जीव किस प्रकार से सातावेदनीय कर्म का उपार्जन करता है?

अहो गातम! प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की अनुकम्पा करने से अर्थात् —प्राणियों की प्राण रक्षा करने से, इनका

थे फिर इन दानों का फल भी अधर्म न होना चाहिये। यदि कहो कि —नागश्री ने मुनि को मारने के परिणाम से औ साहूकार की स्त्री ने मुनि को भ्रष्ट करने की इच्छा से दान दिय था, इसलिये उनके दान उनके परिणाम अनुसार अधर्म-दान हैं धर्मदान नहीं, तो उसी तरह यह भी समझो कि —जो दा लज्जावश या अनुकम्पा करके मुनि को दिया जाता है वह भी दाता के परिणाम अनुसार लज्जादान और अनुकम्पा दान ही है तुम्हारे सिद्धान्त अनुसार इन दोनों में भी अधर्म ही होन चाहिये था। परन्तु यह शास्त्र सम्मत नहीं है। अतः इन दो दानों में भी दाता के परिणाम अनुसार धर्म ही होता है। अत धर्म-दान को छोड़कर शेष नौ दानों को अधर्म में कायम करन अज्ञानता है। क्योंकि —भगवान् ने तो अनुकम्पा दान सा के लिये भी फरमाया है। देखिये सूत्र प्रमाण —

"अणुकम्प पडुच त ओ पडिणीया पण्णत्ता त जहा।
तवस्सि पडिणीए, गिलाण पडिनीए, सेह-पडिणीए"॥

(ठाणाङ्ग सूत्र, ठाणा ३ उद्देशा ४

अर्थात् —तीन मनुष्य अनुकम्पा करने योग्य होते हैं तपस्वी क्षपक, रोग आदि से ग्लान और नवदीक्षित शिष्य इनक अनुकम्पा अगर साधु न करे और न करावे तो वह वैरी समझा जाता है।

इस पाठ के अनुसार उपरोक्त तीन पुरुषों को भी जो सा अनुकम्पा-दान नहीं देता वह वैरी समझा जाता है परन्तु ते

पथी मत-अनुसार तो यह अनुकम्पा-दान भी अधर्म में शामिल है, अत इसे करना पाप-सचय करना है किन्तु भगवान् आज्ञा देते हैं कि —अगर साधु इनकी अनुकम्पा न करे अर्थात् — इन्हें अनुकम्पा दान न दे तो साधु वैरी समझा जायगा। अत अन्त मे तेरापथ के सिद्धान्त को हेय ही समझना पडेगा। क्योंकि भगवान् अनुकम्पा-दान का फल साता वेदनीय कर्म का वन्ध होना वतलाते हैं —और अनुकम्पा न करने से असाता वेदनीय कर्म का वन्ध होता है ऐसा फरमाते हैं। अनुकम्पा करने मे पुण्य और न करने मे एकान्त पाप। देखिये पाठ प्रमाण —

"अत्थिण भते! जीवाण साया वेयणिज्जा कम्माकज्जन्ति ? हन्ता अत्थि। कहण्ण भते! साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जन्ति। गोयमा! पाणाणुकम्पयाए, भूयाणुकम्पयाए, जीवाणु कम्पयाए, सत्ताणुकम्पयाए, वहूण पाणाण जाव सत्ताण अदुक्खणयाए, असोयणयाए, अजूरणयाए, अतिप्पणयाए, अप्पिट्टणाए, अपरियावणयाए, एव खलु गोयमा! जीवाणं साया वेयणिज्जा कम्मा कज्जन्ति ॥ (भगवती सूत्र श० ७ उ० ६)

अर्थ —अहो भगवन्! क्या जीव साता वेदनीय कर्म का उपार्जन किसी उपाय से करता है ? हा गोतम! मनुष्य साता-वेदनीय कर्म का उपार्जन करता है अहो भगवन्! जीव किस प्रकार से सातावेदनीय कर्म का उपार्जन करता है ?

अहो गोतम! प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व की अनुकम्पा करने से अर्थात् —प्राणियों की प्राण रक्षा करने से, इनका

दु ग्ब मिटाने से, मरते जीव को अनुकम्पा-दान देने से साता साता वेदनीय कर्म का उपार्जन करता है। प्राणी भूत, जीव और सत्त्व का दु ख दूर करने से, शोक आदि से अश्रु आदि न गिरा लेयष्टि आदि से ताडन न करने से, इनका परिताप दूर करने से, सातावेदनीय कर्म का उपार्जन करता है।

अब अनुकम्पा के विषय में भ्रम विध्वसन के शब्द पढ़िये –

"अनुकम्पा दान कृपा ये करी दीन अनाथा ने जे दीजे ते पिण अनुकम्पा कहिये। कोई राँक अनाथा दरात्री कष्ट पड्या रोग शोके हैराण ने अनुकम्पादीजे अनुकम्पादान।"

अर्थात् —दीन, अनाथ को दु खी भुखी देख कर उसके दु ख और रोग शोक आदि को मिटाने के लिये जो सहायतार्थ दान दिया जाता है उसे अनुकम्पादान कहते हैं। ठीक अनुकम्पा का लक्षण भी यही है। परन्तु तेरापथी अनुकम्पा-दान म एकात पाप पता नहीं किस शास्त्र अनुसार कह देते हैं। जब कि भगवान अनुकम्पा का फल एकान्त पुण्य फरमाते है।

तेरापथी आगे चलकर अनुकम्पा के दो भेद करते हैं — अनुकम्पा दो प्रकार की होती है —सावद्य अनुकम्पा और निरवद्य अनुकम्पा॥ अब इनके लक्षण भी पढ लीजिये —

हिंसक के हाथ से मारे जाने वाले प्राणी की प्राण रक्षा करने के लिये उपदेश देना और उसको बचाने के लिये उपदेश देना और उसको बचाने के लिये प्रयत्न करना सावद्य अनुकम्पा।

करना है। अर्थात् —वह पापकारी अनुकम्पा है। और तारने के लिये उपदेश देना निरवद्य अनुकम्पा है।

प्रथम तो अनुकम्पा के ये भेद ही शास्त्र विरुद्ध हैं क्योंकि — शास्त्र मे अनुकम्पा के दो भेद कहीं भी नही कहे गये है। अत अनुकम्पा को सावद्य और निरवद्य बताना शास्त्र का विरोध करना है। अनुकम्पा को सावद्य बताना कितना अनर्थ है। क्या एकान्त पुण्योत्पादिका अनुकम्पा भी पाप कारिणी हो सकती है ?

यदि किसी के प्राणों की रक्षा के लिये प्रयत्न करना सावद्य अनुकम्पा है ? तो देखिये — साधु जो शुद्ध आहार ग्रहण करता है उसमें पृथ्वी और त्रस काय के प्राणों की रक्षा ही निहित होती है। देखिये —

"फासु एसणिज्जं भुंजमाणे समणे निग्गंथे आयाए धम्मं नाइक्कमइ आयाए धम्मं अणइक्कममाणे पुढविकाय अवकखइ जाव तसकाय अवकखइ।"

(भगवती सूत्र श० १ उ० ६)

अर्थ —जो साधु प्रासुक और एषणिक आहार लेता है वह अपने धर्म का उल्लङ्घन नहीं करता और अपने धर्म का उल्लङ्घन न करता हुआ साधु पृथिवीकाय से लेकर त्रसकाय यावत् की प्राण रक्षा चाहता है।

इस पाठ मे "पुढविकाय अवकखइ जाव तसकाय अवकखइ" जो ये वाक्य आए हैं —इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधु पृथिवीकाय से लेकर त्रसकाय तक के प्राणियों की प्राण रक्षा

करने के लिय ही शुद्ध, एषणिक, प्राशुक आहार ग्रहण करता है। अत भगवान् तो जैनागम का उद्देश्य ही यह बताते है कि — "ससार के समस्त जीवों की रक्षा और दया के लिये ही जैनागम प्रवर्तित हुआ है" और पच महाव्रतधारी साधु पृथिवी और त्रस काय के जीवो की प्राण रक्षा करनेके लिये शुद्ध आहारकरता है।

उसे तेरापथी साधु पाप कारिणी अनुकम्पा बतलाते हैं। यह उनका बुद्धि का फेर ह्। अगर तेरापथी अब भी गल पड़ा ढोल पीटते रहेगे तो सम्भव है कि —ढोल शीघ्र ही फूट जायगा। और ससार के सामने खिसियाना होना पड़ेगा। और इससे इन्हें ही नहीं अपितु हमे भी दु ख होगा कि —इन्होने जैन धर्म को निन्दित करना चाहा था किंतु स्वयमेव निन्दा के भाजनहोना पड़ा।

इससे अच्छा है कि —उन्हे आज से ही अपनी कुश्रद्धा दूर कर देनी चाहिये और भगवान् के सच्चे मार्ग का पथिक बन जाना चाहिय। हा इसमे इन्हें एक तो विशेष कष्ट होगा कि — जो भोली भाली जनता अपने आंचल मे फँसा रखी है उसे अवश्य छोडना होगा। और उनके समस्त ही अपने कुकर्तव्य पर दो आसू बहाने होंगे। अथच जो इन्होंने शास्त्र विरुद्ध बोलने का नियम सा ले रखा है उसे भी त्यागना होगा। और उन्हें यह मानना पड़ेगा कि —जैन धर्म का उद्देश्य ससार के समस्त जीवों की रक्षा और दया करना ही है। यह सत्य है कि —यह तब माना जायगा जब कि इन्हें भगवान् के प्रवचनो पर और शास्त्रों पर पूर्ण श्रद्धा होगी।

मेरी बार २ यही चेतावनी है कि —तेरापथियों को यह पाठ कण्ठस्थ ही कर लेना चाहिये —

"सव्व जग्ग जीव रक्खण दयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय"। (प्रश्न व्याकरण सूत्र)

अर्थात् —ससार के समस्त जीवों की रक्षा और दया करने के लिये ही जैनागमन भगवान् का प्रवचन अवतरित हुआ है।

अगर उन्होंने इसी प्रकार भगवान् के विरुद्ध अपभाषण ही करना है और जैन-धर्म के मुख्य सिद्धान्त द या का नाश ही करना है तो मैं उन्हें चेतावनी देता हू कि इन्हें तैयार हो जाना चाहिये और सदा के लिये इस तरह से उनका कुछ बन भी सकेगा।

दया, अनुकम्पा और रक्षा ये तीनों ही नाम ऐसी अमर वस्तु के है। जो न मिटे और जिसे न कोई मिटा सके। दया के नाशकों को समझ लेना चाहिये कि —दया का नाश करना अपनी आत्मा को मोह सागर मे निमज्जित करना है। दया अन्त तक विजयवती होगी। ससार इसका लोहा मानेगा और माता दया का स्वर्णमय ध्वज ससार के कोणे २ पर लहरायगा। देवता भी जय जयकार करेंगे। और पजाबी वीर की सिंह गर्जना फिर अपने पूर्ण बल से गूजेगी —

"वन्दे दयामातरम्"

॥ शमस्तु ॥

॥ इति पूर्वो भाग ॥

क्या मिथ्यात्वी की क्रिया आज्ञा में है?

ससार मे एक कहावत प्रसिद्ध है, कि मनुष्य अगर एक बार झूठ बोलता है, तो उसे उस झूठ को छिपाने के लिये सौ बार झूठ बोलना पड़ता है।

इसी प्रकार तेरा पथियों ने स्वार्थवश पहला सिद्धान्त घड़ा, कि, "साधु के सिवा सब कुपात्र हैं, कुपात्र को दान देना महा पाप है।" नौ प्रकार का पुण्य भी साधु को देने से ही पैदा हो सकता है, यह कल्पना कर लेने के बाद अब पुण्य का राजमार्ग ही बन्द हो गया।

ससार का कोई प्राणी बिना साधु को दिए हुए दान के पुण्य पैदा कर ही नहीं सकता, और साधु भी तेरापथी, क्यों कि उनके सिवा तो और सब साधु असाधु ठहरे। इस बात से तेरापथियों को फिर घबराहट हुई, कि ससार का प्रत्येक प्राणी पाप ही पाप करने लग पड़ा केवल हमें छोड़ कर, अत इन्हें फिर मिथ्यात्वी की तप, जप आदि, करणी भगवान् की आज्ञा मे स्वीकार करनी पड़ी, किन्तु फिर श्रुत और चारित्र धर्म ने इस कल्पना का खण्डन कर दिया। क्योंकि, श्रुत और चारित्र धर्म का सम्यग दृष्टि ही

पालन कर सकता है, मिथ्या दृष्टि नहीं। अत फिर इन्हें श्रुत और चारित्र धर्म को त्यागना पडा और अपने नए सिद्धान्त की कल्पना करनी पडी। जैस —धर्म के दो भेद संवर और निर्जरा ही हैं, श्रुत और चारित्र नहीं। पाठक समझ गए होंगे कि मिथ्यात्वी की क्रिया भगवान् की आज्ञा मे तेरा पंथियों को किन मजबूरियों से माननी पडी।

अच्छा अब आप मिथ्यात्वी के विषय मे भी कुछ जान लें। मिथ्यात्वी का सीधा अर्थ तो यह है, जो सच्ची बात को झूठी, और झूठी बात को सच्ची माने, उसे मिथ्यात्वी कहा जाता है। मोटे शब्दों मे उलट मतिवाल मनुष्य शास्त्रकार के सिद्धान्त से, धर्म को अधर्म समझे, और अधर्म को धर्म समझे, पुण्य को पाप, और पाप को पुण्य, साधु को असाधु, और असाधु को साधु, इत्यादि।

ऐसे उलट मति वाले मनुष्य को मिथ्यात्वी कहा जाता है। तेरापंथी उलट मति वाले मनुष्य की क्रिया भगवान् की आज्ञा मे मानते हैं। जैसे —पहले गुण ठाणे अनेक सुलभ बोधी जीवा सुपात्र दान देइ जीव तपस्या शीलादिक भली उत्तम करणी, शुभ योग, शुभ लेश्या, निरवद्य व्यापार था।

परीत ससार कियों छै। ते करणी शुद्ध आज्ञ मांहिली छै। ते करणी रे लेखे देश थकी मोक्ष मार्ग नो आराधक कह्यो छै।"

[भ्रमविध्वंसन]

अर्थात् —प्रथम गुणस्थान (मिथ्यात्व गुणस्थान) मे अनेक

सुलभ बोधी जीव सुपात्र, दान, दया, तप, जप, अज्ञान क्रिया आदि द्वारा वह मिथ्यात्वी भी मोक्षमार्ग का आराधक बन जाता है। क्योंकि वह सब अज्ञान मयी क्रियाएं भी भगवान की आज्ञा में ही हैं। पाठक देखेंगे कि तेरापंथियों की स्वार्थतृप्ति से की गई भूल क्या क्या अनर्थ कर रही है। आखिर झूठ को शास्त्रीय रंग दे देना कोई सरल काम नहीं होता। वहां तो शास्त्रों के सही अर्थ का गला घोंट देना पड़ता है, और अनर्थ को प्रधानता देनी पड़ती है।

उसी प्रकार तेरापंथियों ने प्रथम गुणस्थान वाले जीव की अज्ञान क्रिया भी सिद्ध करनी चाही है और उसे सिद्ध करने के लिए पद पद पर भगवान् की आज्ञा का विरोध करना पड़ा है लेकिन यह सब कुछ किया भी भगवान् की दुहाई दे देकर ही।

जैसे —मिथ्यादृष्टि में व्रत नहीं होता, किन्तु तेरापंथी उसे व्रती सिद्ध करते हैं। हालांकि मिथ्यात्वी की जो भी करणी होगी वह सब अज्ञान भरी होगी। क्योंकि उसने धर्म को तो अधर्म समझना और अधर्म को धर्म समझना है। जिस दिन उसकी यह बुद्धि का फेर मिट जायगा, उसी दिन वह सम्यग् दृष्टि में बन जायगा। जब तक उसको सत्य-दृष्टि नहीं मिलेगी, तब तक उसका चरित्र, तप, सब कुछ अज्ञान मूलक ही होगा। अज्ञान भगवान् की आज्ञा में नहीं। अतः अज्ञान से किया गया तप, जप, आदि भी सब भगवान् आज्ञा से बाहर है।

शास्त्रकार का स्पष्टीकरण

"नादसणिस्स नाण, नाणेण विना न होंति चरण गुणा।"

(उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थात्—मिथ्यादृष्टि के पास श्रद्धा नहीं होती, श्रद्धा के बिना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान के बिना चारित्र तथा गुण (पिण्ड विशुद्धि आदि) नहीं होता।

यह उक्त गाथा का अर्थ है। इसमे ज्ञान के बिना चारित्र का न होना स्पष्ट दर्शाया गया है। यद्यपि मिथ्यात्व मूलक जप, तप, आदि का अनुष्ठान पुण्य का तो उत्पादक हो सकता है, किन्तु सवर और सकाम निर्जरा का नहीं। सकाम निर्जरा बिना मोक्ष का आराधक कोई भी नहीं बन सकता। सवर निर्जरा का ज्ञान तब हो सकता है जब कि शुद्ध श्रुत और चारित्र धर्म का पालन किया जाय। मिथ्यात्वी इन से एक दम विपरीत होता है। अत मिथ्यात्वी की करणी मोक्षाराधन मे कुछ भी सहायता नहीं देती अगर कोई शङ्कावादी कहे कि, शुद्ध व्रत तपस्या बिना, चारित्र का पालन किए बिना पुण्य का उपार्जन कोई मनुष्य कर ही नहीं सकता। बिना पुण्य के स्वर्ग नहीं मिल सकता। किन्तु ऐसे बहुतायत से प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे ज्ञात होता है, कि मिथ्यात्वी की करणी भगवान् की आज्ञा मे है।

उत्तर —उपरोक्त प्रश्नकर्ता ने जो यह शका उठाई है, शुद्ध व्रत, तप, जप, आदि किए बिना पुण्य उपार्जन नहीं हो सकता,

यह बात शास्त्र से एकान्त विरुद्ध है। क्योंकि शास्त्र में ऐसे पाठ बहुत आते हैं, जिनसे पता लगता है कि मिथ्यात्वी जप, तप द्वारा स्वर्ग तो प्राप्त कर सकता है, किन्तु मोक्षाराधक नहीं बन सकता। जैसे कि उववाई सूत्र में अकाम व्रत आदि करने वाला स्वर्गाधिकारी तो बनाया है, परन्तु साथ में ही उसका जप, तप, आदि मोक्षाराधन में निष्फल है —

"जीवेण भन्ते ! असजए अविरए अपडिहय आव क्खाय पाव कम्मे इओ चुए पेचा देवेसिया गोयमा। अत्थे गइया देवेसिया अत्थे गइया णो देवेसिया॥

से केणट्ठेण भन्ते ! एव वुच्चइ, अत्थे गइया देवेसिया अत्थे गइया णो देवेसिया ?

गोयमा ! जे इमे जीवा गामागरणयर णिगम रायहाणि खेडकव्वड मडव दोण मुह पट्टणासम सवाह सण्णिवेसेसु अकाम तण्हाए अकाम छुहाए अकाम बभचेर वासेण अकाम अण्हाण सीय तान दसमसग सेय जल्ल मल्ल पङ्क परितावेण अप्पतरो वा भुज्जतरो वा काल अप्पाण परिकिलेसन्ति।

अप्प तरोवा भुज्जतरोवा काल अप्पाण परिकिलेसित्ता काल मासे काल किच्चा अण्णयरेसु वाणमेन्तरसु देव लोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवान्त। तहिं तेसिं गती तहिं तेसिं ठीति, तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते।

तेमिणं भन्ते ! देवाणं केवइय काल ठिई पएणत्ता। गोयमा ! दसवास सहस्साइ ठिई पएणत्ता।

अत्थिणं भन्ते ! तेसिं देवाणं इड्ढी वा, जुई वा, जसेतिवा, वलेति वा, वीरिए वा पुरि सकार परिकम्मेइ वा, हन्ता ! अत्थि। तेणं भन्ते ! देवा परलोगस्स आराहगा ? णो इणट्ठे समट्ठे। (उववाई सूत्र)

अर्थ —हे भगवान् जो संयम और विरति से रहित हैं, तथा जिसने भूत काल के पापों का हनन और भविष्यत् के पापों का प्रत्याख्यान नहीं किया है। वह इस लोक से मरकर क्या देवता वन सकते हैं ?

उत्तर —हा गौतम कुछ बन भी जाते हैं, और कुछ नहीं भी।

प्रश्न —भगवन् ! इस में क्या कारण है ?

उत्तर —हे गौतम ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेड़, कव्वड, मडव, द्रोणमुख, पट्टणासार, सवाह और सन्निवेशों मे रहने वाले जो जीव निर्जरा की इच्छा के बिना अकाम तृष्णा, अकाम क्षुधा, अकाम ब्रह्मचर्य पालन, अकाम अस्नान तथा अकाम से शर्दी, गर्मी, दंश मसक, स्वेद, धूलि, पङ्क और मल का सहन करते हैं, वे थोडे या बहुत दिनों में क्लेश सहन करके मरण-काल के आने पर मृत्यु लोक को प्राप्त होकर वाणव्यन्तर सज्ञक देवलोक मे उत्पन्न होते हैं। वहीं उनकी गति, स्थिति और देव भव की प्राप्ति होती है।

प्रश्न —वे जीव देवता होकर देवलोक मे कितने काल तक रहते है ?

उत्तर —वे जीव देवता होकर दश हजार वर्ष तक देवलोक मे रहते हैं।

प्रश्न —उन देवताओ की वहा पारिवारिक सम्पति, शरीर तथा भूषणों की दीप्ति, यश बल वीर्य, पुरुषाभिमान और पराक्रम होता है ?

उत्तर —हा गौतम होते हैं।

प्रश्न —वे देवता परलोक यानी मोक्षमार्ग के आराधक हैं?

उत्तर —हे गौतम वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नही होते।

(यह उववाई सूत्र के मूल पाठ का अर्थ है)

इस मूल पाठ मे अकामक्षुधा, तृष्णा, अकाम ब्रह्मचर्य पालन अकाम शर्दी गर्मी आदि का कष्ट सहन करके दश हजार वर्ष की आयु के देवता होते हैं, किन्तु इन देवता होने वाला को भगवान् ने मोक्ष मार्ग का किञ्चिन्मात्र भी आराधक न होना बतलाया है।

उवावई सूत्र मे आगे इस से भी विस्तार सहित वर्णन किया गया है। जो मनुष्य गङ्गा के तट पर बैठ कर केवल पानी पाकर अज्ञान तप आदि करते हैं वह भी साठ हजार, अस्सी हजार आयुष्य वाले देवता होते हैं, किन्तु वे मोक्षमार्ग के किञ्चित भी आराधक नहीं।

इससे भी अधिक कठिन तप करने वाले एक एक मास का जो पूरा तप करते है और पारणे वाले दिन कुशाग्र मात्र आहार (कुशा के अग्र भाग पर जितना आहार टिक सके) जो ग्रहण करते हैं, वे भी मोक्ष मार्ग के आराधक नहीं है । क्योंकि, उनका तप अज्ञानमय होता है । अत उनका जप, तप, मोक्षाराधन मे कुछ भी सहायता नहीं करता । शास्त्रकार तो उस के तप को चन्द्रमा की सोलहवीं कला जितना भी मोक्षाराधन मे सहायक नहीं, ऐसा निर्देश करते हैं —

"मास मासेउ जो बालो, कुसग्गेण तु भुं जइ ।
न सो सुक्खाय धम्ममस्स, कल अग्घइ सोलसिं ।।"

(उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थ —जो मनुष्य बाल, यानी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है वह हर एक मास मे कुश के अग्रभाग मे जितना अन्न ठहरता है, उतना ही अन्न खाकर रह जावे तो भी वह पुरुष जिनोक्त धर्म के आचरण करने वाले मोक्षमार्ग के आराधक की सोलहवीं कला तक भी बराबरी नही कर सकता ।

भगवान् के इस प्रकार कह देने पर भी तेरापथी अपनी चतुराई प्रकट करने से नहीं चूकते । वे कहते हैं.—

"तो तिण रे लेखे पिण सम्यग् दृष्टि रा निर्जरा धर्म रे सोलहवें भाग मे न आवे तो सत्तरहवें भाग में तो आवे ।"

(भ्रमविध्वसन पृ० १६)

अर्थात्—अगर सम्यग् दृष्टि के चरित्र की सोलहवीं कला जितनी भी मिथ्यादृष्टि बराबरी नहीं कर सकता, तो निर्जरा धर्म के सत्तरहवीं कला में तो बराबरी कर ही सकेगा।

पाठक जानते हैं, कि चन्द्रमा की कला केवल सोलह ही होती हैं। इससे अधिक होती ही नहीं। इसलिए शास्त्रकार ने यहा पर मिथ्यादृष्टि के तप का सम्यग् दृष्टि के तप के साथ तुलना कर के इन दोनों के तप की सोलहवीं कला जितनी भी बराबरी का निषेध किया है। किन्तु तेरापथी उसे कहते हैं कि अगर सोलहवीं कला जितनी समानता नहीं कर सकता, तो सत्तरहवीं कला जितनी बराबरी तो अवश्य कर सकेगा। क्या बुद्धिमत्ता की बात है, मिथ्यादृष्टि की करणी भगवान् की आज्ञा में जो ठहरानी हुई। अत कुछ न कुछ अनर्थ (पाप) तो करना ही पड़ेगा। तेरापथियों को इतना तो समझ लेना चाहिए, कि दर्शन शुद्धि के बिना कोई भी जीव मोक्षमार्ग का आराधक नहीं बन सकता। दर्शन के बिना ज्ञान नहीं, ज्ञान के बिना आचार नहीं, आचार बिना मोक्ष नहीं।

तत्त्वार्थ सूत्र के प्रवक्ता उमास्वाति आचार्य तत्त्वार्थ सूत्र के आदि मे लिखते हैं, कि मोक्ष प्राप्ति के तीन द्वार हैं। प्रथम—दर्शन, द्वितीय—ज्ञान, तृतीय—चरित्र, परन्तु जब तक हम इन्हें यथा संख्या के तारतम्य मे बाध कर मन, वचन, और काया पर इन का एक साथ प्रभाव नहीं डाल देते, तब तक हम निरन्तर मोक्ष से दूर ही दूर होते चले जाते हैं। मोक्ष के समीप हम तभी

आ सकते हैं, जब कि इस सिद्धान्त त्रय पर अमल करना एक साथ प्रारम्भ करदें और क्षण क्षण मे उच्च विकास की असंख्य सीढियों को अतिक्रमण करते चले जाए, तभी हमे मोक्षप्राप्ति की कुछ आशा हो सकती है। परतु मिथ्यादृष्टि के पास तो मिथ्या श्रद्धा, मिथ्या विचार, और मिथ्या आचार अठ खेलिया किया करते हैं, जिन मे मिथ्यादृष्टि एकतार से मग्न हुआ आसक्त सा झूमा करता है। ऐसे मिथ्यात्वी की मिथ्यात्व भरी करणी भगवान् की आज्ञा के कैसे मानी जा सकती है। तीन प्रकार की आराधना वहा पास तक नहीं फटकती।

अर्थात्--ज्ञान आराधना, दर्शन आराधना और चारित्र आराधना। मिथ्यादृष्टि के पास नहीं होती। आराधना के बिना आराध्य (मोक्ष) का आराधक कैसे ठहराया जा सकता है। उस की क्रिया अक्रिया का, विनय अविनय का, तथा ज्ञान अज्ञान का रूप धारण कर लेती है, तो बताओ मिथ्यात्वी किस प्रकार मोक्ष का आराधक बन सकता है ?

प्रमाणः--किरया अकिरया, विणए अविणए णाण अण्णाणे।

(ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३)

इसका अर्थ है, यह कि मिथ्यात्वी की क्रिया अक्रिया होती है, विनय अविनय होती है, तथा ज्ञान अज्ञान होता है।

उपरोक्त ये सब बातें मिथ्यादृष्टि की मोक्ष मार्ग के लिए एक दम विपरीत होती हैं। क्योंकि, उसकी आत्मा अभी मिथ्यात्व

के गहरे सागर में डूबी होती है, और वह प्रत्येक सत्य कार्य को असत्य समझा करता है। ऐसे मिथ्यात्वी की अज्ञान मयी क्रिया भगवान् की आज्ञा में मान लेना अपने गहरे मिथ्यात्व का परिचय देना है। इसलिए यह तेरापथियों का सिद्धान्त मिथ्यात्व भरा दीखता है। वैसे तो तेरा (भीषन) पथियों के जितने भी कल्पित सिद्धान्त हैं वे विरोधी हैं।

जैसे —धर्म के दो भेद संवर और निर्जरा।

साधु के सिवा कुपात्र,
कुपात्र को दान देना महा पाप,
माता को वेश्या बताना,
श्रावकों को कसाई कहना,
माता पिता की सेवा में पाप ठहराना,

प्राणी की प्राण रक्षा करने में एकान्त पाप मानना, और मिथ्यात्वी की क्रिया को भगवान् की आज्ञा में बतलाना, इत्यादि, सब सिद्धान्त जैन धर्म से एकान्त विरुद्ध हैं। पाठक, जिन्हें अच्छी प्रकार पीछे पढ आए हैं, और अच्छी प्रकार समझ भी गए होंगे कि, तेरापथ का जैन धर्म के साथ धार्मिक और सैद्धान्तिक, कितना गहरा मतभेद है।

—:※:—

क्या ये साधु है ?

किंवा साधुता के लिए विडम्बना ?

हम अभी तक तेरापथियों के सिद्धान्तों को शास्त्रों के मूल पाठों से परखते आए हैं। बेशक उनमें से एक भी सिद्धान्त शास्त्रानुसार नहीं देखा और नहीं उनमें से शास्त्र की कसौटी पर कोई पूरा उतरा है, किन्तु अब हम उनके सांस्कृतिक सम्बन्ध को देखना चाहते हैं। क्या तेरापथी जैन-धर्म की श्रमण संस्कृति का सही पालन करते हैं ? अथवा श्रमण संस्कृति का वेष लेकर उसे बदनाम ही कर रहे हैं।

हम शास्त्र प्रतिपादित श्रमण संस्कृति से तेरा (ंगीरसण) पथ श्रमण संस्कृति की तुलना करेंगे। अगर वह शास्त्रानुसार है, तो हम उसकी सराहना करेंगे। अगर वह एक दम विरुद्ध है तो हम उसको ठीक करने के लिए भी कोई कोर कसर न उठा रखेंगे। इसलिए सबसे पहले हमारा विषय होगा कि —

क्या ये साधु हैं ?

अब पाठक जरा इस तरफ विचार करेंगे, कि क्या जो मनुष्य

साधु का वेष लेकर गृहस्थ परिवार से सकुल घर मे रहे, स्त्री-पशु पडक (नपु सक) तथा पुरुष और नौकर, नौकरानी जहाँ आपस में लडते हो झगडते हों, कुतूहल करते हों, युवक और युवतिओं का हास्य रोदन, शृङ्गार, स्नान और उबटन मले जाते हो।

सासारिक जीवन मे भी जहा दाम्पत्य जीवन का इतिहास खुलता हो। द्रव्य को पानी की तरह बहाकर जहा पर उपभोग सामग्री सञ्चित की गई हो। मोहोत्पादक जहा रङ्ग बिरङ्ग चित्र लटक रहे हो। मक्खन घी घे जहा पीपे (टीन) भर कर जमा किये हो, पानी के जहा सचित्त अचित्त घट भरे जाते हो। आस पास नीचे ऊपर छत पर स्त्री पुरुष शयन करते हों। मात्रा (मूत्र) परटने की जगह और विष्टा (टट्टी) परटने की जगह जहा बिल्कुल भी न हो। क्या ऐसे अनुचित स्थान पर साधु और साध्वी एक दिन भी ठहर सकता है ? शास्त्र ता ऐसे स्थान को साधु और साध्वी के ठहरने के लिए अयोग्य मानता है।

भगवान तो ऐसे अनुचित स्थान पर ठहरने वाले साधु को अथवा साध्वी को आज्ञा विराधक मानते है —

अनट्ठ पगडं लयणं, भइज्ज सयणासणं।
उच्चार भूमि सम्पन्नं, इत्थिपसु विवज्जियं॥

(दशवैकालिक सूत्र अ० ८ गा० ५२)

अर्थात् —जो मकान गृहस्थों ने अपने लिए बनवाया हो, और जिसमें मल विसर्जन, तथा मूत्र परठने की जगह हो, और

शयन, आसन, पाट, पाटलादिक, गृहस्थो ने अपने लिए बनवाया हो और जो स्त्री पशु से पृथक् हो ऐसे मकान मे साधु और साध्वी ठहर सकते है।

इस पाठ मे साधु और साध्वी को स्त्री पशु सहित और मूत्र आदि शकाएँ परठने की जगह से रहित मकान मे रहने का, और ठहरने का निषेध किया है।

अब आगे बृहत्कल्प सूत्र मे देखिए कि साधु और साध्वी के लिए कौन से उपाश्रय (मकान) मे ठहरनेका निषेध किया है —

"उवसयस्स अन्तो वगडाए सीओदग वियड कुम्भे वा उसिणोदग वियड कुम्भे वा उवनिक्खित्ते सिया, नो कप्पइ निग्गथाण वा निगथीण वा अहालदमवि वत्थए हुरत्थाए उवस्सय पडिलेह माणे नो लभेज्जा, एव से कप्पइ पर एगराय वा दुराय वा वत्थए, नो से कप्पइ पर एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए। जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा पर वसेज्जा। से सन्तरा छेए वा परिहारे वा।

उवस्सयस्य अन्तो वगडाए सव्वगडए जो इज्झिया-एज्जा। नो से कप्पइ निग्गथाण वा निगथीण वा अहा-लद मवि वत्थए हुरत्थाए उवस्सय पडिलेहमाणे नो लभेज्जा एव से कप्पइ एगराय वा दुराय वा वत्थए, नो

से कप्पइ पर एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा पर वसेज्जा से सन्तरा छेए वा परिहारेवा।

उवस्सयस्स अन्तो वगडाए सव्वराए पईवे दिप्पेज्जा, नो कप्पइ निग्गथाण निग्गथीण वा अहालदमवि वत्थए, हुरत्थाय उवस्सय पडिलेहमाणे नो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगराय वा दुराय वा वत्थए नो से कप्पइ पर एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए जे तत्थ एगरायाओ दुरायाओ वा पर वसेज्जा से सन्तरा छेए वा परिहारे वा ॥७॥

उवस्सयस्स अन्तो वगडाए पिण्डए वा लोयए वा खीर वा दहिं वा सप्पि वा नवणीए वा तेल्ले वा फाणिय वा पूव वा सक्कुली वा सिहिरिणि वा ओक्खित्तणाणि वा विक्खित्तणाणि वा नो कप्पइ निगथाण वा निगथीण वा, अहालदमवि वत्थए ॥८॥

(वृहत्कल्प सूत्र उ० २)

अर्थ —जिस स्थानक या उपाश्रय मे गृहस्थ ने ठण्डे अचित्त पानी के घडे भरे रक्खे हो ऐसे स्थानक मे साधु साध्वी को रहना कल्पता नही है।

यदि कदाचित् ऐसा अवसर आ जावे अर्थात् ग्राम मे रहने के लिए स्थान तलाश करते हुए यदि कोई अन्य स्थानक न मिले

और वहा अवश्य ठहरना पडे तो साधु साध्वी को उस स्थान मे एक या दो रात्री के अधिक रहना नहीं कल्पता।

अगर इस मर्यादित काल से ज्यादह ठहरे तो एक या दो रात्री उपरान्त जितना काल वहा ठहरे उतने काल का ही दीक्षा छेद आवे अथवा परिहारिक तप का प्रायश्चित्त आवे।

जिस स्थानक या उपाश्रय मे सारी रात दीपक जलता है।

जिस स्थानक या उपाश्रय मे सारी रात अग्नि जलती हो। ऐसे स्थान मे साधु या साध्वी को क्षण भर भी रहना नहीं कल्पता।

कदाचित् सारे ग्राम नगर मे ठहरने का स्थान ढूंढने पर भी न मिले तो गाढा गाढी कारण से अगर वहा रहना ही पडे तो एक या दो रात्री साधु और साध्वी वहा ठहर सकता है। अगर साधु या साध्वी एक या दो रात्री से अधिक ठहरे तो उसे उतने काल का ही दीक्षा छेद आवेगा। या परिहारिक तप का प्रायश्चित्त करना पडेगा॥७॥

जिस स्थानक मे मिठाई का पिण्ड (समूह) अथवा मीठे का पिण्ड रक्खा हुआ हो, शक्कर, आदि रखी हुई हो, क्षीर, दूध, दही, नवनीत (मक्खन) तेल, गुड, मालपूडे, तिलादि की पापडी लड्डू, आदि पक्वान्न रखे हुए हो, या इन वस्तुओं के मटके भरकर रखे हुए हो, ऐसे स्थान मे साधु और साध्वी को क्षण भर भी रहना नहीं कल्पता।

इस पाठ मे पाठको को इस बात का तो खूब परिचय मिल गया होगा कि साधु जिस मकान में रहता है वहा कौन सी वस्तुए त्याज्य है, और जो साधु अथवा साध्वी ऐसे मकान मे रहता है उसे शास्त्रकार क्या कहते है। उसके लिए किस दण्ड का विधान है।

अब हम वह पाठ दिखलाते हैं कि जिसमे चित्र आदि लगे हुए हो, ऐसे मकान मे भी साधु और साध्वी को ठहरना नही कल्पता जैसे —

नो कप्पइ निगथाए वा निगथर्णि वा सचित्त कम्म उवस्सए वत्थए ॥

नो कप्पइ निगथाए वा निगथीए वा सागरिए उव स्सए वत्थए ॥

(वृहत्कल्प सूत्र उ० १)

जिस मकान में नाना प्रकार के चित्र लगे हुए हो ऐसे सचित्र मकान मे साधु और साध्वी को रहना नहीं कल्पता।

जिस मकान मे गृहस्थ रहते हो उस मकान में साधु और साध्वी को रहना नहीं कल्पता।

पाठको से अब मैं पूछना चाहता हू कि अगर कोई साधु सती शास्त्र निषिद्ध मकान मे भी ठहर कर महत्ता की डींग मारे तो क्या वह वास्तव मे साधु या सती कहलाने का अधिकारी है?

इस प्रश्न के उपस्थित होने पर पाठक यही उत्तर देंगे कि वह साधु या सती कहलाने का अधिकार बिलकुल नहीं रखता। ठीक! यह बात भी सत्य पूर्ण है। परन्तु अब इन साधुता के ठेकेदारों की तरफ देखिए —पक्षपात को छोड कर निर्णय दीजिए कि शास्त्र विधान के अनुसार तेरापथी कितना चलते है, और अपने आप को कितना कहते है।

जगराओं नगर मे इनकी सुन्दरा नाम की सती जिसे तेरापंथी महासती सुन्दरा जी महाराज कह कर पुकारते है। वही (सती) ठाणे पाच से एक ऐसे गृहस्थ के मकान मे ठहरी हुई थी जहा पर —नीचे रसोई, पशुओं का तबेला, दो या तीन नल के, गुशलखाना आदि बने हुए है। उस मकान मे लगभग चार-पाच कमरे हैं। उनके मध्यस्थ वाला कमरा दूसरी मजल का जो बडा कमरा है। उसमे सती जी साहिबा अपना आसन जमाए हुए है। उनके आस पास वाले कमरों मे उस गृहस्थ के लडके और लडकिया तथा स्त्रिया निवास करती है। उधर उनका दाम्पत्य जीवन बाल बच्चो का कोलाहल स्त्री पुरुषों का जमघट भी दिन रात खूब लगा रहता है।

सती जी के रहने वाले कमरे पर भी स्त्री तथा पुरुष सोते है। उधर जाने के लिए एक ही रास्ता है। वहा सारी रात दीपक भी जलता है। घी मक्खन आदि भी जमा किया हुआ होता है। विस्तार की बात क्या कि उस मकान मे शास्त्र निषिध

जितनी भी बातें है वे सब उसमें विद्यमान हैं। यहा सतीजी साहिबा अपना चतुर्मास बिता रही है। लगभग उस गृहस्थ के चालीस पचास जीव, नौकर, नौकरानियों की भगम्ड तथा उन रागों की खट खट वहा सर्वदा होती ही रहती है। एक तरफ तो पशु और मानव सृष्टि का सृजन पूरी तीव्रता से चल रहा है दूसरी तरफ महासती जी वासनाओं के प्रवाह मे सतीत्व को प्रवाहित करने की भरसक चेष्टा कर रही है। कहा तक बताया जाये बताते भी शर्म प्रतीत होती है, किन्तु वे सतियां भगवान की दुहाई देकर वासनामय गृहस्थ परिवार की तूती को सुनने में मग्न हुई सुख से निवास कर रही है। कोई विचार नहीं करता। कोई भी ऐसे शास्त्र को सुनने के लिए तैयार नहीं। यद्यपि भगवान् के सच्चे श्रावक इस बात को देखकर दुखित अवश्य होते है परन्तु उनके पक्षपाती लोग अपनी आख पर इतना बड़ा पक्षपात का पट्टा बान्धे है कि उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। वे अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए धर्म, कर्म, सब छोड़े फिरते हैं। यह बात तो उनके ध्यान तक मे नहीं आती, कि साधुता कहा, और कहा गृहस्थ का कोलाहल। कहा सतीत्व और कहा शृङ्गार सभा। अगर इन्हें इसी प्रकार गृहस्थियों के बगें मे वास करना था तो घर बार छोड़ने की आवश्यकता ही क्या थी। परन्तु इस बात को सतियां तो क्या सोचेगी? उनके आचार्य आदि भी नहीं सोचते कि इनका परिणाम क्या निकलेगा। और वे सतियां फरमाती हैं कि हमारे तेरापथी साधु और सतियां सबके सब इसी प्रकार उतरते

हैं। ऐसे मकानों मे बडे आनन्द से ठहरते ह। तब यह उनके लिए क्या आश्चर्य कारिणी बात हो सकती ह। वे तो रात को भी पुरुषों की सभा मे बेठती हैं। सतियों के पास रात्री को पुरुष भी जा सकते है और स्त्रिया भी। साधु के पास रात्री का स्त्री और पुरुष भी खूब आनन्द से बैठ सकते है, तो मकान की तो बात ही क्या है।

किन्तु कहना तो तब पडता है, जब कि श्रमणोपासक वर्ग यह जानता हुआ भी कि ये साधु सतिया भगवान् की आज्ञा के एक दम विरुद्ध चलते हैं। विरुद्ध होकर मकाना मे ठहरते है। लेकिन फिर भी इनको साधु और महासती आदि कहकर पुकारते है। अत कहने की आवश्यकता तभी पडती है जब कि तेरापथी अपने आप को तो जैन प्रकट करे और आचरण भगवान् के विरुद्ध पालें। ये दोनो विरुद्ध वातें देख कर भय लगता है कि कभी इन वातो से जैन सस्कृति की अपकीर्ति न हो जाय। क्योंकि भगवान् तो ऐसे मकानो मे जहा उच्चार भूमी न हो, पात्रो का धोवन परठने के लिए जहा कोई स्थान न हो वहा साधु और सती को एक दिन भी ठहरना नहीं कल्पता। किन्तु ये साधु और सतिया ऐसे मकान मे ठहरती है। जैसे कि जगरावों मे ये सतिया जिस मकान मे ठहरी हुई है उस मे इन तीनो वातो के लिए कोई स्थान नहीं है।

जगल अथवा पेशाव के लिए इन्हे प्रतिदिन सरकार की चोरी करनी पडती है। क्योंकि मात्रा आदि को परठने के लिए मकान

मे तो कोई स्थान है ही नही, अत इन को ये वस्तुए प्रतिदिन राजमार्ग (सडक) पर गेरनी पडती हैं। यह बात जगराओ के चार भाइयो के सामने हुई है। एक श्रावक ने पूछा कि महासती जी ? आप मात्रा आदि कहा परठती है ? सतियों ने उत्तर दिया था कि हम मात्रा आदि सडक पर परठती हैं।

यह तो पाठकों को पता ही होगा कि सडक पर मात्रा और जगल परठना कानूनन अनुचित होता है। अगर सडक पर ऐसा वस्तुए कोई मनुष्य गिराए तो शायद उसे तीन मास की सजा भी दी जाती है।

अब आप ही बताए कि सती बन कर भी सरकार की चोरी करना कितना बडा पाप है। ऐसी चोरी तो श्रावक के लिए भी निषिद्ध है, तो साधु या सतियों की तो बात ही क्या है।

दूसरी बात —ये सतिए जिस मकान मे अब चतुर्मास कर रही हैं उस मकान के नौ या दश बजे तो अवश्य ही दरवाजे बन्द हो जाते हैं और प्रात काल चार या पाच बजे खुलते हैं। तो रात के इन छ सात घटों मे अगर मात्रा और जगल की बाधा हो जाती है, तो वे सतिया क्या करती हैं। क्योंकि एक तो वहा साधु या सती के उच्चार के लिए कोई स्थान नहीं है, और दूसरी बात यह कि तेरापथी साधु मकान पर जाना बुरा समझते हैं।

अगर उस मैटरियल (मात्रा आदि) को जमा करके रख लेती हैं तो सम्मूर्छिम जीवों के अर्जन का पाप करती हैं। उच्चार

कर के वोसरे वोसरे नहीं करतीं तो अपने सतीत्व को समाप्त कर देती हैं।

इनमें से एक बात तो अवश्य करनी पडती होगी कि या तो महा पाप का अर्जन करना, या सतीत्व धर्म से पतित होना। अगर उसे रात को ही ऊपरली मजिल से गिरा दिया जाय, तो शास्त्र विरुद्ध होने से दण्डित होना पडेगा, अगर रक्खा जाय तो सती धर्म नष्ट हो जायगा।

अब बताए कि ये सतिया कौनसा मार्ग अङ्गीकार करती होंगी। परन्तु यह करना तो तब हो जब कि उन्हें कुछ शास्त्रधर्म की लाज हो। भगवान् की आज्ञा का पालन करना हो, तभी इन बातों की तर्फ ध्यान दिया जाय, जब कि ढग ही बनाए रखना हो तो वहा फिर शास्त्र को कौन पूछता है?

वहा आडम्बर का बोलबाला होता है। साधुता की दुहाई के ढोल पीट जाते हैं, परन्तु साधुता का पालन नहीं किया जाता। पाखण्डप्रधान समाज मे धर्म दूर हो जाया करता है। इन सतियों को नगर मे और भी जगह मिलती थी, किन्तु उन सब जगहों को छोडकर इसी गृहस्थ घर मे रहना इन्हें पसन्द था। वेष ले लेना सरल है, किन्तु साधु का वेष लेकर साधुत्व की भावना को शक्तिशाली बनाना अत्यन्त कठिन होता है। ये पीछे लगी हुई गृहस्थ पने की लालसाए कठिनता से छूटा करती हैं। ऐसे गर्हित मनुष्य को कोई पक्षपात में साधु या सती कहता है, तो यह उसकी बुद्धि

का फेर है। भगवान् महावीर तो ऐसे मनुष्य को साधु या सती कहलाने का एक दम अनधिकारी मानते हैं।

"तजहा निरत्ताइ सयणा सणाइ सेवेज्जा से निग्गथे।"

नो इत्थी पसु पडग ममत्ताइ मयणासणाइ सेविता भवति से निग्गथे, त कहमिति च॥

(बृहत्कल्प सूत्र)

अर्थ —जिस मकान में स्त्री, पशु, पडग तथा गृहस्थियों के शयनासन होता हो, ऐसे मकान में नहीं रहने वाला साधु या सती होकर भी उपरोक्त वस्तुओं से युक्त मकान में निवास करता है तो वह साधु या सती कहलाने का अधिकार नहीं रखते।

इस निर्णय के होने पर अगर फिर भी श्रावक आंखें बन्द कर इन्हें सती सती या साधु साधु कहने का साहस करेंगे तो समझना चाहिए कि वह अनर्थ, पाप और भगवान की आज्ञा भंग का पातक अपनी आत्मा पर चढ़ा रहे हैं।

—— ❀ ——

सबसे बड़ा धोका

धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से भी कपट करना, धोखा देना एक निन्दनीय कार्य है। यह तो गृहस्थी के लिए भी हानिकर माना गया है। बेशक वह व्यापार सम्बन्धी हो अथवा व्यावहारिक सब के लिये सब प्रकार से हानिकर है। जो कोई भी इसे जहां कहीं भी (व्यवहार में लाएगा) वहां ही वह हर तरह से हानि ही उठाएगा।

फिर साधु के लिए तो सर्वथा ही कपट करना धोका देना, फरेब रचना त्याज्य है। ऐसा करना अपनी साधुता को डुबा देना है।

पाठक तो शायद यहां तक कह देंगे कि कपट करने वाला साधु नहीं पाखण्डी है। महापापी है। संसार भी यह कहेगा कि कपट करने वाले को साधु कह देना साधुता का अपमान करना है"।

ठीक अगर किसी पंथ का अग्रणी ही कपट करता हो, अपने गुरु से ही विश्वासघात करता हो जिन्होंने उसे अथक परिश्रम से

शास्त्राभ्यास कराया हो उन्हें ही बदनाम करना अपना धर्म मन लिया हो, क्या एसे कृतघ्न मनुष्य को कोई साधु मानने को तैयार होगा ?

पाठक ही बतायें कि क्या ऐसे धोकेबाज मनुष्य का कोई बुद्धिमान् मनुष्य नेतृत्व स्वीकार करेंगे ?

बल्कि कई एक तो प्रश्न सुनकर उस समय यह भी कह गए कि हम तो ऐसे नीच प्राणी को मनुष्य ही मानने को तैयार नहीं, नेतृत्व तो एक दूसरी चीज है ।

ससार मे ऐसे भी मनुष्य होते है जो गुरुदेव से भी धोखा करने से पीछे न हटें । जिन से शिक्षा ग्रहण करना उन से ही धोका करना मनुष्यत्व से गिरी हुई बात है ।

अगर पाठक कुछ गहराई से विचार करेंगे तो उपरोक्त सब बातें घटती चली जायगी तेरापथियों के अग्रणी मे, तेरापथ के प्रवर्तक में ।

मैं नही कहता कि ये सब से बडा पाप धोका है, किंतु धोका स्वय कहता है, कि धोका ससार मे सबसे बडा पाप है ।

इसी प्रकार मुझे कहने की आवश्यकता नहीं कि यह इस मनुष्य ने धोका अथवा कपट किया । वे कपट और धोके की घटनाए स्वय कहेंगी कि यह इस ने धोका किया ।

तेरापथ का प्रवर्तक भीषण परम पूज्य प्रात स्मरणीय, बाईस सम्प्रदाय के आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज का शिष्य था।

इसने गुरुदेव की आज्ञा मे रहते हुए भी अपने गुरुदेव से तीन बार कपट किया और पुन उसका प्रायश्चित लिया, इस बात को ता तेरापथी भी स्वीकार करते हैं।

अब आप बताए कि जिन्हे गुरु बनाना और उन्ही के कपटपने से शिष्य बहकाने, गुरु से श्रद्धा, श्रद्धा का नियम ले लेना और उनके भोले भाले श्रावकों को और साधुओ को अशुद्ध श्रद्धा वाली फूक मारते रहना जिसके परिणाम स्वरूप बाईस सम्प्रदाय के तेरह साधु और कुछ श्रावक झासे मे ले लिए। क्या यह भीषण का गोदी मे बैठ कर केश नोंचने जैसा कार्य नहीं था? क्या यह गुरुदेव के साथ विश्वासघात नही था?

दूसरा धोका :—

जिन के सैनिक बनकर घूमना, जिन के हुक्म पर चलने का दावा करना और उन्हीं को दाषी ठहराना। भगवान् महावीर श्रमण निर्ग्रन्थ फरमाते हैं कि हमने छद्मस्थ अवस्था मे स्वल्प भी पाप व दाष का सेवन नहीं किया, किन्तु भीषण जी कहते है कि भगवान् चूके, उन्होंने दोष सेवन किया। भगवान् महावीर फरमा रहे हैं कि हमने गोशाला को अनुकम्पा बुद्धि से बचाया है। किन्तु भीषण जी कहते है कि भगवान् ने गोशाला को राग से बचाया। मोह कर के उस की तेजो लश्या को शीतल लेश्या से शान्त किया था, अनुकम्पा से नहीं।

भगवान् उस समय शुद्ध चार ज्ञान के धारक थे। जिस

शास्त्राभ्यास कराया हो उन्हें ही बदनाम करना अपना धर्म मान लिया हो, क्या एसे कृतघ्न मनुष्य को कोई साधु मानने को तैयार होगा ?

पाठक ही बतायें कि क्या ऐसे धोकेबाज मनुष्य का कोई बुद्धिमान मनुष्य नेतृत्व स्वीकार करेंगे ?

बल्कि कई एक तो प्रश्न सुनकर उस समय यह भी कह दें कि हम तो ऐसे नीच प्राणी को मनुष्य ही मानने को तयार नहीं नेतृत्व तो एक दूसरी चीज है।

ससार मे ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो गुरुदेव से भी धोका करने से पीछे न हटें। जिन से शिक्षा ग्रहण करना उन से ही धोका करना मनुष्यत्व से गिरी हुई बात है।

अगर पाठक कुछ गहराई से विचार करेंगे तो उपरोक्त सब बातें घटती चली जायगी तेरापथियों के अग्रणी में, तेरापथ के प्रवर्तक में।

मैं नहीं कहता कि ये सब से बडा पाप धोका है, किन्तु धोका स्वय कहता है, कि धोका संसार मे सबसे बडा पाप है।

इसी प्रकार मुझे कहने की आवश्यकता नहीं कि यह इस मनुष्य ने धोका अथवा कपट किया वे कपट और धोके की घटनाए स्वय कहेगी कि यह इस ने धोका किया।

तेरापथ का प्रवतेक भीषण परम पूज्य प्रात स्मरणीय, बाईस सम्प्रदाय के आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज का शिष्य था

इसने गुरुदेव की आज्ञा मे रहते हुए भी अपने गुरुदेव से तीन बार कपट किया और पुन उसका प्रायश्चित लिया, इस बात को तो तेरापथी भी स्वीकार करते है।

अब आप बताए कि जिन्हें गुरु बनाना और उन्ही के कपट-पने से शिष्य बहकाने, गुरु से श्रद्धा, श्रद्धा का नियम ले लेना और उनके भोले भाले श्रावकों को और साधुओं को अशुद्ध श्रद्धा वाली फूक मारते रहना जिसके परिणाम स्वरूप बाईस सम्प्रदाय के तेरह साधु और कुछ श्रावक फासे मे ले लिए। क्या यह भीषण का गोदी मे बैठ कर केश नोचने जैसा कार्य नहीं था ? क्या यह गुरुदेव के साथ विश्वासघात नही था ?

दूसरा धोका :—

जिन के सैनिक बनकर घूमना, जिन के हुक्म पर चलने का दावा करना और उन्हीं को दोषी ठहराना। भगवान् महावीर श्रमण निर्ग्रन्थ फरमाते हैं कि हमने छद्मस्थ अवस्था मे स्वल्प भी पाप व दोष का सेवन नहीं किया, किन्तु भीषण जी कहते हैं कि भगवान् चूके, उन्होंने दोष सेवन किया। भगवान् महावीर फरमा रहे हैं कि हमने गोशाला को अनुकम्पा बुद्धि से बचाया है। किन्तु भीषण जी कहते है कि भगवान् ने गोशाला को राग से बचाया। मोह कर के उस की तेजो लेश्या को शीतल लेश्या से शान्त किया था, अनुकम्पा से नहीं।

भगवान् उस समय शुद्ध चार ज्ञान के धारक थे। जिस

समय इन्होंने गौतम गणधर जी को यह कथा सुनाई है, कि हम ने गोशाला को अनुकम्पा से बचाया था। उस समय भगवान् पूर्ण केवल ज्ञानी थे। और केवल दर्शन के धारक थे। किन्तु उन के वचन उत्थापने वाला उनको "पाप से बचाया" कहने वाला भीषण पाच ज्ञानों में से कौन से निर्मल ज्ञान का धारक था? जिसके द्वारा इसने भगवान् को रागी ठहराया। पापी बनाया।

आज तक भगवान के पश्चात् इतने आचार्य हुए, इतने श्रुतधर हुए लेकिन यह किसी ने नहीं बताया कि भगवान् ने गोशाला को मोह से बचाया था। भगवान् ने स्वय इसे अनुकम्पा से बचाया यह बात भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में कही है, फिर भी भगवान् को "मोह से बचाया" कहना कितना अनर्थ करना है। यह दुनिया की आखों में धूल झोंकना नहीं तो और क्या है?

फिर ऐसे कपटी का जो भी शिष्य समुदाय होगा वह कैसे सरल और निष्कपट बन सकेगा? यहा तो —"गुरु जिन्हाँ दे टप्पणे, चेले जाण छड़प्प" वाली ही लोकोक्ति चरितार्थ होगी।

देखिए जरा इनकी भी करतूतें, इन्होंने भीषण को भी धोके बाजी में फीका कर छोड़ा है। शायद संसार की वञ्चकता इन के ही हिस्से में आगई हो, ऐसा प्रतीत होता है।

इन का व्यवहार, — निराकपट भरा,
" सदाचार, — निरा ढोंग परिपूर्ण,

इन के नियम — प्राय पापोत्पादक,

इनकी वचन सत्यता — गिरगिट जैसी अस्थायी,

तात्पर्य यह कि मेरे सामने कुछ और ही तरह कहना, और उसी बात को दूसरे के सामने किसी और ही तरह से अलापना। जैसे —किसी को जीव बचाने मे पुण्य बताना, किसी को "यह तो ससार खाता है" कह कर पीछा छुडा लेना, किसी को एकान्त पाप कह कर शास्त्रों के घडे हुए अनर्थ सुनाना, कपट का कार्य है या नहीं ?

इसे कहते हैं :—

"दुनिया लूटना मकर से, रोटी खाना शक्र से" वाली नीति। कहना कुछ और करना कुछ और। तेरापथी साधु प्राय अपने त्याग की डींग मारते हुए कहा करते हैं कि —"हम सोडा साबुन से कपडे नहीं धोते, दूसरे साधु धोते हैं" इसलिए हम सच्चे साधु हैं।

पाठकों को आज इतना तो पता लग गया होगा कि सच्चा साधुपन वस्त्र के न धोने मे है। भटभु जे और हलवाइयों को तो प्रसन्न हो जाना चाहिए कि सच्चा साधुपन का प्रमाण-पत्र तुम्हें शीघ्र मिल जायगा।

खैर ! आगे देखिये :—

एक बात को कह कर उस पर पूरा तो उतरना चाहिए। कम से कम जिस बात को एक बार थूक दिया जाय, उसे फिर चाटना निन्दित कार्य नहीं तो और क्या है ?

तेरापथ की सतिए भीखी ग्राम में एक अग्रवाल की दुकान पर से सोडा माग कर लाई और वस्त्र धाने लगीं। इतने में वही गृहस्थी आ पहुँचा, तथा पूछने लगा, कि महाराज! आप तो सोडा साबुन लेते नहीं, और इस से वस्त्र भी नहीं धोते, अब आप वस्त्र क्यों धो रहे हैं ?

उत्तर —

भाया तुम इस बात का मर्म नहीं समझे, साधु ने शृङ्गार के लिए सोडा साबुन नहीं लेना और वस्त्र भी नहीं धोना। मैल उतारने के लिए कोई हर्ज नहीं होता। विश्वासघात का क्या ही सरल तथा निष्कपट कण्टक रहित मार्ग है।

सत्य तो यह है, जा कोई भी साधु होगा, वह शृङ्गार के लिए कोई काम नहीं करेगा। शृङ्गार के लिए सोडा साबुन बर्तना तो एक दूर की बात है। शृङ्गार के लिए सोडा साबुन बर्तने वाला साधु नहीं वह साढ है, तथा स्वादु है।

यहा तो एक मात्र वस्त्र नहीं धोने का नियम लेकर भी वस्त्र धोए जाते हैं, यह है जादूगरी तथा प्रवचना की पराकाष्ठा!

इसी दृष्टिकोण से निष्पक्ष पूर्ण अगर तेरापथियों सर्वोत्कृष्टता ऐसे ही दावे, डींगें, बड़ाई के पफक्कड़ इकट्ठे किये जाय तो इन का "अभिमान इतिहास" निराला ही बनाना पड़ेगा। तथापि एक चावल से ही चावलों की कचाई तथा पकाई का ज्ञान विचार शील कर लेते हैं ऐसे ही यहा भी उदाहरण रूप में दो चार

नमून पाठकों के समक्ष रखने उपयुक्त ही हैं।

भीखण की डींग :—

महाविदेह क्षेत्र मझे मुझथकी मोटा अणगार हो।

(भिक्षुजस रसायण पृ० २७८ गा० ७)

अर्थात् —मेरे जैसा सयमी साधु कोई महाविदेहक्षेत्र मे ही हो सकेगा। इस जम्बु द्वीप के भरतक्षेत्र मे तो कोई नहीं। देखिए कितनी निरभिमानता है ? कितनी बू है, नम्रता, मृदुता (मार्दव) तो कहीं आस पास भी नही फटकती। पास आए भी तो कैसे "अकल के पीछे तो सोटा ले रखा है। पक्षान्धता का भैरव नशा चढा हुआ है। अभिमान से गर्दन अकड़ी हुई है। मानवी प्रकृति को दानवी नटी का वेप पहना दिया है, वहा साधुता और नम्रता का क्या काम हैं।

तेरापथ का प्रवर्तक भीखण अफीम के नशे में चूर रहता था। जब कभी उसे "पीणक" लगती थी उसी अवस्था में वह शास्त्रों के अनर्थ घटता रहता था। क्योंकि अफीमची को अपना शरूर ही चढा रहता है। उसे धर्म अधर्म का कुछ भी भान नहीं हुआ करता। इस रहस्य का हमे जयाचार्यकृत "भिक्षुजस रसायण" नाम की पुस्तक के पढने से लगा।

जयाचार्य अपनी पुस्तक "भिक्षुजस रसायण" मे लिखते हैं–

इग्यारस आहार त्याग दियो मुनि अमलपाणी उपरतो ॥६॥

शिष्यवर्ग भरता कहे स्वामी ने क्यों न राख्यो अमलरो आगारो ॥७॥

पूज कहै आगार किसौं हिवे, किसी करणी काया नी सारो ॥८॥

अर्थात् —भीषण जी ने एकादशी के दिन अमल (अफीम और पानी) को छोड़कर आहार छोड़ दिया। दूसरे दिन अफीम और जल का भी त्याग कर दिया। पूज्य श्री जी से उन के शिष्य पूछने लगे कि महाराज ! आप ने अमल (अफीम) का आगार क्यों नहीं रखा ? तो भीषण जी ने उत्तर दिया कि अब आगार रख कर क्या करना है, अब तो शरीर की ही ममता त्याग दी है। (यह संथारे के समय का वर्णन है)

इन गाथाओं से स्पष्ट प्रकट होता है कि भीषण जी का शरीर अफीम के बिना कुछ करता भी न होगा। वह अफीम के नशे में आसक्त बन गए होंगे। अब यह बात निस्संकोच कही जा सकती है, कि भीषण जी ने ये शास्त्रों के अनर्थ घडे हैं, और घडे भी अफीम के नशे में ही हैं। अन्यथा ऐसे अनर्थ एक हठी अथवा नशई (अमली) के बिना कौन कर सकता है। ये दोनों बातें भीषण में पूरी घटती हैं। एक तो स्वभाव सिद्ध ही वह हठी व्यक्ति था। हठ का ही यह सब कुपरिणाम है। दूसरे उस में अफीम की भी बर्बरता खूब भरी हुई थी। इन दो दुर्गुणों के प्रताप से ही इस नाटक का अभिनय प्रस्तुत हुआ था। बेशक

लेते हैं। ठीक है घर का झगड़ा घर ही में निबेड़ लिया, किन्तु कितनी अज्ञानता है, क्योंकि तुलसीराम ने अपने गुरु कालुगणी के मरने पर कौन सा नया जीवित गुरु बनाया ?

जब दूसरों के लिए यह गुरु का करेवा सिद्ध है तो आचार्य तुलसीराम ने कौन सा अपराध किया है, जिससे उन्हें रडवा छोड़ते हो ?

जैसे बना उल्लू सीधा किया, किन्तु यह आत्मवञ्चना नहीं, तो क्या है ?

तीसरी बातः—

जब किसी साधु या सती का स्वर्गवास हो जाता है, तो उस के शव को एक कोणे मे बाधकर बिठा दिया जाता है। उस समय आचार्य तुलसीगणी जी उठ कर आते हैं, और उसके कानों मे छू मन्त्र सुना देते है। जब वे अपनी गिटमिट सुना चुकते हैं तो तेरापथी श्रावक उसे उठा ले जाते हैं।

हमे अभी तक इस बात का निश्चय नहीं हो पाया है कि क्या यह उस की गति की स्वीकृति दी जाती है ? या उसे किसी प्रकार का सन्देश दिया जाता है ? न जाने इस आडम्बर से कब तक दुनिया को लूटते रहेंगे ?

यह सब इन की हाथों की सफाई है। आडम्बर का प्रभाव भी स्थायी रूप मे नहीं पड़ सकता, उसकी जड़ें खोखली हैं।

क्या नियमकर्ता तुलसीराम बदल गया अथवा उसके वे नियम ही समाप्त हो गये ?

यह प्रतिज्ञा है, या गोबर का कीला ? जो पूर्व की हवा लगने मात्र से पूर्व की ओर झुक जाय और पश्चिम की हवा लगने पर पश्चिम की तरफ पसर जाय।

ऐसा नहीं, वे जीवनावधि कृत प्रतिज्ञायें जीवन के साथ ही समाप्त हुआ करती हैं। किन्तु यहा तो प्रत्याख्यान के खात्मे पिचकरण किया जाता है, जरा सा आचार्यत्व का प्रलोभन हुआ और निचक गया। यह आत्मा के प्रति धूर्तता नहीं तो और क्या है ?

दूसरी बात :—

कालुगणी के स्वर्गवास होने पर श्री तुलसीराम जी को गद्दी पद दिया गया। अब जो शिष्य कालुगणी के थे, वे तेरापंथियों ने तुलसीराम के बना दिये। यह तेरापंथियों ने अन्धा 'करवा' अपनाया है। जिसका अमल पहले आचार्य के शिष्यों को दूसरे आचार्य के शिष्य बनाने में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। करवा सिद्धि वे इस प्रकार करते हैं —

गुरु के मरने पर मनुष्य निगुरा बन जाता है अतः इस दूसरा कोई नया जीवित गुरु बना लेना चाहिए।

इसीलिए नियम के पक्के बात के सच्चे तेरापंथी साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका एक गुरु के मरने पर दूसरा गुरु बना

"आजकल के वीतराग संयमी"

तेरापथी साधु अधिकतर अपनी बड हाका करते हैं। साधु ने राग, द्वेष, करना नहीं जो करे सो साधु नहीं, हम राग, द्वेप करते नहीं, इसीलिए ही तो बिल्ली से चूहा छुडाते नहीं, अगर कोई छुडा दे तो एकान्त पाप करे, क्योंकि, बिल्ली तो भूखी होती है, चूहा उसका खाद्य है, अगर उसे वह न खाए तो भूखी मर जाय अत बिल्ली से चूहा छुडाना चूहे पर राग प्रकट करना है, और बिल्ली पर द्वेप।

राग, द्वेप से कर्म बन्ध होता है, कर्मबन्ध साधु ने करना नहीं। इसीलिए हम बिल्ली से चूहा छुडाने मे एकान्त-पाप बताते हैं।

तेरापथियों मे इस आशय की एक लोकोक्ति भी प्रचलित है—

"जो बिल्ली से चूहा छुडावे, वह मर करके नरक मे जावे किन्तु तेरापथी यह तो बताए कि अगर बिल्ली को दूध पिला दिया जाय, और चूहे को छुड़ा दिया जाय तो उसमें बिल्ली के भूखे मरने का तो पाप टल गया। और दूसरी बात जो राग द्वेप की कही है वह तो एक सीधे उत्तर से ही कट जाती है। जैसे —

उसने आज या कल सब के सामने चित्त गिरना है। उस के धोखे मे आए हुए अथवा फसे हुए जितने भी श्रमणी हैं, वे इस की पोल खुल जाने पर समार के सामने ढिढोरा पीटते फिरेंगे और साथ मे यह चेतावनी भी देंगे —

जो मनुष्य अपने गुरु से कपट करता है, उसे धोका कहा जाता है। जो स्वय गुरु बन कर फिर कपट करता है, उस बड़ा धोका कहा जाता है। जो भगवान् से भी कपट करता है उसे "सब से बड़ा धोका" नाम दिया जाता है।

है। साधु ने उचित समय देखकर उपदेश देना आरम्भ कर दिया —

"राग, द्वेष का ही ससार मे बन्धन है। वह ही छोडने योग्य है। विशेष कर साधुओ के लिए तो राग, द्वेष करना ही नहीं चाहिए। राग द्वेष करने वाला साधु, साधु नही। साधु को तो राग, द्वेष से बिल्कुल ही रहित होना चाहिए।"

यह सुन्दर व्याख्या तो सब श्रोताओं ने सुनी और ठीक ठीक (तहत तहत) कह कर सिर भी खूब हिलाया। किन्तु उन मे एक मनचला श्रोता था, जो उपदेश को बडा महत्व दे रहा था, पूछने लगा। महाराज! क्या आप राग, द्वेष नही करते?

तेरापथियो ने उत्तर दिया, कि "भाया जब हमने एक बार कह दिया कि साधु राग, द्वेष नहीं किया करते, फिर पूछने की क्या आवश्यकता है, हम भी तो साधु ही है।"

श्रावक ने सोचा कि राग, द्वेष से विमुक्त साधु तो मिलना ही दुर्लभ है, आजकल तो सराग सयमी साधु होते है। ये वीतराग सयमी साधु कहा से उतर पडे, परीक्षा तो लेनी चाहिये।

वह वहा से उठा, उठकर उन के पात्रों की झोली उठाई, उनके सामने से नीचे को उतरने लगा। व्याख्यान देने वाले साधु को भी इस बात का पता चला, वह भी उसके पीछे भागा, उसके पास जाकर, अपने पात्रों की झोली उसके हाथ से खेंचने लगा, उस श्रावक से तेरापथी साधु कहने लगा कि भाई यह क्या करता है

अगर हमारा चूहे पर राग हो और बिल्ली पर द्वेष तो, बिल्ली या कुत्ते से न छुडाए, और चूहे को किसी क्षुद्र जीव को खाते हुए को न भगाए। हमारा तो यह कर्त्तव्य है, कि कोई भी जीव अगर किसी अन्य पर अनधिकार चेष्टा करता है, तो हम यथाशक्ति उसको हर तरह से अनुकम्पा का दान दें और उसके प्राण की रक्षा करें।

बेशक वह क्षुद्र जीव हो, बृहत् या महान हमारा धर्म प्रत्येक जीव की रक्षा करना है। उसे राग, द्वेष बताना अज्ञान का परिणाम है।

तेरापथी इस बात को तब सोचें जब कि इन्होंने सत्य का धर्म का और दया का अन्वेषण करना हो। उन्होंने तो अपनी श्लाघा अपनी बढाई मारने मे लगानी है। उन के लिए आदर्श बनना और सत्याचरण का पालन करना एक बुरी बात है। वह अपने आपको वीतराग सयमी प्रकट किया करते हैं और जहा भी जाते हैं वहा सब से प्रथम अपनी वीतरागता प्रकट किया करते हैं। इसकी मैं आपको एक कथा सुनाता हू उससे आपको विदित हो जायगा कि तेरापथी कितने वीतरागता को धारण किये हुए हैं।

पञ्जाब प्रान्त के रोपड नगर मे भी कुछ वर्ष पहले तेरापथी गए थे। ये किसी चौबारे मे उतर गए, शाम का समय था लोगों ने भी सुना कि साधु महाराज आये हैं, कुछ भक्तजन भी वहा इकट्ठे हो गए। लोगों के दिलों मे साधु उपदेश सुनने की लालसा थी। अत उन्होंने प्रार्थना की, कि महाराज! हम उपदेश सुनना चाहते

है। साधु ने उचित समय देखकर उपदेश देना आरम्भ कर दिया —

"राग, द्वेष का ही ससार मे बन्धन है। यह ही छोडने योग्य है। विशेष कर साधुओ के लिए तो राग, द्वेष करना ही नही चाहिए। राग द्वेष करने वाला साधु, साधु नही। साधु को तो राग, द्वेष से बिल्कुल ही रहित होना चाहिए।"

यह सुन्दर व्याख्या तो सब श्रोताओं ने सुनी और ठीक ठीक (तहत तहत) कह कर सिर भी खूब हिलाया। किन्तु उन मे एक मनचला श्रोता था, जो उपदेश को बडा महत्व दे रहा था, पूछने लगा। महाराज! क्या आप राग, द्वेष नही करते?

तेरापथियों ने उत्तर दिया, कि "भाया जन हमने एक बार कह दिया कि साधु राग, द्वेष नहीं किया करते, फिर पूछने की क्या आवश्यकता है, हम भी तो साधु ही है।"

श्रावक ने सोचा कि राग, द्वेष से विमुक्त साधु तो मिलना ही दुर्लभ है, आजकल तो सराग सयमी साधु होते है। ये वीतराग सयमी साधु कहा से उतर पडे, परीक्षा तो लेनी चाहिये।

वह वहा से उठा, उठकर उन के पात्रो की झोली उठाई, उनके सामने से नीचे को उतरने लगा। व्याख्यान देने वाले साधु को भी इस बात का पता चला, वह भी उसके पीछे भागा, उसके पास जाकर, अपने पात्रों की झोली उसके हाथ से खेंचने लगा, उस श्रावक से तेरापथी साधु कहने लगा कि भाई यह क्या करता है

ये तो पात्र हमारे हैं, इन्हें उठाकर कहा ले चला। श्रावक ने उत्तर दिया, कि महाराज! जिधर मेरी इच्छा है, उधर ले चला।

तेरापथी —जिधर तेरी इच्छा है, उधर जा, हम कौनसा रोकते है परन्तु ये पात्र तो हमारे हैं, इन्हें तो तू नहीं ले जा सकता, इन्हें यहा ही छोड दे ये हमारे हैं।

श्रावक —महाराज! आप तो कहते थे कि साधु ने किसी पर मेर (ममत्व) नहीं करनी। मेर करने वाला आपके उपदेशानुसार साधु नहीं। फिर यदि आप पात्रों की भी मेर नहीं छोड सकते, तो आप राग द्वेष छोडने की डींग क्या मारेंगे? लीजिये अपने पात्र मैंने क्या करने है। केवल वीतराग सयमित्रा की परीक्षा ही करनी थी सो करली।

महाराज! ऐसे गपौडे किसी और जगह ही जाकर मारने। आप के जाल मे इधर तो कोई फसने वाला नहीं है।

तेरापथी साधु कुछ सिसियाने से हो गए। प्रात काल उठ, बिस्तर गोल किया और अपने रास्ते पडे।

इसे कहते है ढोल की पोल, जहा पर भी फट जाती है, वहा स्वय बेकार तथा अपनाने वाले को बेशर्म बना देती है। उन बेचारे ढोल बावेप की पोल या ढोंग खुल जाने पर बदनामी के सिवा और कुछ पल्ले नहीं पडता।

देखिए भगवान महावीर श्रमण निर्ग्रन्थ ने दो प्रकार के सयमी कहे है —

१—सराग सयमी और २—वीतराग सयमी

वीतराग सयमी तो कल्पातीत होते हैं जैसे —तीर्थङ्कर भगवान्, अब रहे सराग सयमी। उनमे जिन कल्पी और स्थविर कल्पी दो प्रकार के सयमी होते हैं।

आजकल इस पञ्चम आरे मे जिन कल्पी साधु भी नहीं होते। आज के समय मे केवल स्थविर कल्पी ही साधु होते हैं। वे है सराग सयमी।

सराग, अर्थात् राग सहित। राग केवल पाप वर्द्धक ही नहीं है, वह भी कई भेद भेदान्तरो में विभक्त होता है। स्वार्थ के वशीभूत होकर जो दूसरे का सम्बन्ध होता है वह राग स्वार्थानुराग नाम से पुकारा जाता है। जो परमार्थ के लिए दूसरे से सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसे प्रेमानुराग, धर्मानुराग आदि नाम से बुलाया जाता है। भगवान महावीर श्रमण नायक ने जहा कहीं भी धर्मी का परिचय दिया है, वहा वे ही शब्द प्रयोग मे लाए गए हैं, और उन्हीं के द्वारा धर्मीके धर्म प्रेम की प्रशसा करी है—

"अट्ठि मिञ्जपेमाणुराग रत्ते, अट्ठि मिञ्जधम्माणुराग रत्ते"

(उपासक दशाङ्ग सूत्र)

अर्थात् —धर्मी की हड्डी हड्डी और मिज्जा मिज्जा (मज्जा मज्जा) में प्रेम=परमार्थ का अनुराग स्नेह भरा पडा है।

धर्म का अनुराग उसकी नस नस मे भरा हुआ है। ऐसे

ऐसे धर्मियों की भी धर्म के पीछे अनुराग शब्द जोड़ कर ही भगवान महावीर ने प्रशसा की है। धर्मियों के सामने आदर्श रक्खा है, जिसे देख कर प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा में धर्म के अनुराग को कूट कूट कर भर सकता है। अपनी आत्मा को आने वाली सन्तति के लिए आदर्श बना सकता है। केवल राग शब्द से ही पाप का ज्ञान नहीं कर लेना चाहिये। दूध अमृत है परन्तु वह भी अयोग्य स्थान पर विष बन जाता है। ऐसे ही राग का गम्भीर विचार करने से पता लग जाता है, कि अगर धर्म राग का परमार्थ के लिए उपयोग किया जाय तो वह भी मुक्ति का दाता बन जाता है।

सन्त कवि तुलसीदास जी अपनी स्त्री पर इतने आसक्त थे, कि उसे क्षण भर भी अपनी आँखों से परे नहीं कर सकते थे। वह स्त्री जब अपने पीहर को चली तो साथ में ही तुलसीदास जी भी चल पड़े। तब स्त्री ने उन्हें फटकार सुनाई —

पतिदेव! जितना आपका राग मेरे में है, इतना राग यदि आपका परमात्मा में हो, तो आपको कितना ज्ञान का प्रकाश मिले; मेरे पीछे लग कर तो अपनी आत्मा को डुबाना है।

यह सुन तुलसीदास जी की आँखें खुली और अपने राग का मुख भगवान की ओर मोड़ लिया। उसी दिन से उन्हें ख्याति मिलने लग पड़ी।

एक यदि राग भी धर्म के साथ जोड़ दिया जाय और उस

धर्मानुराग बनाकर पालन किया जाय तो वह ही मुक्ति दाता बन जाता है।

देखिए उस चौथे आरे में भी धर्मी को प्रेमानुरागी अथवा धर्मानुरागी नाम से ही पुकारा जाता था। आजकल के समय में तो साधु हैं ही सराग सयमी।

भगवान् का ऐसा फरमान है। इस पञ्चम काल में फिर भी एक या दो नही सवा छः सौ तेरापथी वीतराग सयमी गूलर की तरह कहा से निकल पडे, इस बात का पता नहीं लगता ?

अरे! झूठ की भी कोई हद होती है, किन्तु उससे परे गपोडे की कोई हद नहीं होती धन्य है गपौड पथियों को !!!

तेरापंथियो की सम्यक्त्व प्रणाली

तेरापथियों की सम्यक्त्व प्रणाली भी विचित्र है। जब कभी समकित लेने वाला ग्राहक कोई आ फसता है, उस आगन्तुक को तरापथियो का पूज्य तुलसीराम सब से पहले उसे नियम करवाता है —धर्म, पुण्य, जानकर पाच महाव्रत धारी (तेरापथी) साधु के सिवाय किसी को भी नमस्कार नहीं करना, और उसे आहार पानी आदि भी नहीं देना।

जब वह यह नियम कर लेता है, तो पूज्य साहिब उसे दूसरा नियम करवाते है —किसी मोटे वृक्ष को नहीं कटवाना जो दोनों हाथों में न समा सके।

तीसरा —अगर तुम्हारे से कोई पूछे कि तुम्हारा गुरु कौन है, तो उसको उत्तर देना कि तुलसी गणी।

जब आगन्तुक यह अच्छी प्रकार सुन लेता है, तो उसे कहा जाता है "मेरा गुरु तुल ी गणी" ऐसा तीन बार बोल। वह तीन बार बोलता है बस उसे शुद्ध तेरापथी तुलसी गणी का शिष्य मान लिया जाता है।

जब हमे इस विचित्र प्रणाली का पता लगा तो हमे उस समय तो कुछ आश्चर्य चकित रहना पडा, किन्तु फिर हमने विचार किया कि आश्चर्य की कौनसी बात है, तेरापथियों के तो सिद्धात ही विचित्र है, अगर उनकी समकित प्रणाली विचित्र हुई तो आश्चर्य की बात क्या है।

न उसे अरिहन्तदेव का स्वरूप समझाना, न नमस्कार मत्र सिखाना, न ही तत्त्वज्ञान कराना, बस गुरु के नाम बताने की धुन सवार है, यहा समकित के स्वरूप को कौन पूछता है।

एजएटो की कोशिशें—

तेरापथ समाज ने एजएट (दलाल) छोडे हुए है, वे धन से लाभाभिभूत हुए जनता के मानस विगाडने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगाए रखते है। उन दलालों का तो कर्म, धर्म कुछ होता ही नहीं, बस उन्हें एक तो लीडरी घोटने का खूब मौका मिल जाता है, दूसरी तरफ चादी भवानी की गुप्त वर्षा होती रहती है। इन्हें क्या काम दया से, अनुकम्पा और दान पुण्य से इन्हें अपनी पेट भराई चाहिए।

जनता मे ऐसे प्रचार से सकीर्णता और निर्दयता बढती है। उन्हें ऐसा विचार नहीं होता, वे तो कहते हैं, कि बढने दो, हमें तो ऐसे प्रचार से धन मिलता है तथा चौधरपना मुफ्त का, हमे और क्या चाहिए ?

अरे दलालो ! क्या समझते हो कि धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार करना पाप नही ? महा पाप है।

लोभान्ध पुरुप को फिर नरक के यमराज ही ठीक किया करते हैं। अब भी समझ आओ क्यो अपनी गति बिगाड रहे हो। य तो धर्म पर और ससार पर कलङ्क है, जिसे मिटाना दिल दिमाग वाले प्रत्येक नवयुनक का आवश्यक कर्तव्य है। क्या ऐसे पा नियम भी कभी धर्म के नाम से पुकारे जा सकते हैं? यह धर्म नहीं यह धर्म पर काला धब्बा है।

तेरापंथ और जैन शास्त्र

तेरापथ —छ काय की रक्षा के लिए उपदेश देना एकान्त पाप करना है [भीषण कृत अनुकम्पा ढाल छठी पृ०]

जैनशास्त्र —संसार के समस्त प्राणियों की दया और रक्षा के लिए उपदेश देना एकान्त धर्म करना है।

(प्रश्न व्याकरण सूत्र पाठ पृ०)

तेरापथ —मतमार, कहकर भी प्राणियों के प्राण की रक्षा करने वाला ही सच्चा जैन और साधु है।

(भगवती सूत्र जहा महण शब्द है)

तेरापथ —"एह अज्ञानी जीवरी कोई मूरख माने बात कहे गाडा हेठे आवे, डावडो तो माथा ने लेणा उठाय। श्रावक ने बैठा करे नहीं, ओ उन्धो पन्थ इण न्याय ॥"

(भी० अ० ढा० छठी गा० ३६)

अर्थ —ऐसे अज्ञानी जीवों की कोई मूर्ख ही बात मानेगा, कि अगर कोई बच्चा गड्डे के नीचे आ रहा हो तो उसे साधुओं को बचा लेना चाहिए। कितने मूर्ख है, जब श्रावक को तो बैठने

के लिये कहना नहीं, बच्चे को नीचे से बचा लेना। यह तो एकान्त पाप है।

जैनशास्त्र --बच्चा गड्ढे के नीचे आता हुआ दुखी हो रहा है, उसके दुख को दूर करने वाला साता वेदनीय कर्म का (एकान्त पुण्य का) उपार्जन करता है। (भगवती सूत्र पाठ)

श्रावक विषयिक युक्ति के विषय में —अगर तेरापंथी श्रावक को न बैठना कह देने मात्र से बच्चे उठाने का नियम करते हों, तो तेरापंथी साधुओं को जल के पात्र में पड़ी हुई मक्खी को भी नहीं उठाना चाहिये।

तेरापंथ—

साधां ने लब्धि न फोडणी जी, सूत्र भगवती माय।
पिण मोह कर्मवश राग थी, तिण सू लियो गोशालो बचाय॥

(भी० अ० ढा० छठी गा० ११)

अर्थ —साधु के लिए लब्धि फोडना मना है, ऐसा भगवती सूत्र में फर्माया है। अतः भगवान् ने मोह और राग के वश में होकर गोशाला को बचा लिया।

जैनशास्त्र --भगवान् ने गोशाले को अनुकम्पा से बचाया, मोह और राग से नहीं। (देखो पाठ पृ० १२ भगवती सूत्र)

विशेष —जिसमें साधु के लिए लब्धि फोडना निषिद्ध हो, ऐसा पाठ भगवती में कहीं नहीं आया।

जैनशास्त्र —शास्त्र मे ऐसा कहीं पाठ नहीं आता, जहा साधु के सिवा अन्य सब को कुपात्र कहा गया हो, क्योंकि तीर्थ नाम ही पात्र का है। उस के होने वाले साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका का सघ ही सब पात्र है। शास्त्र में प्रतिमाधारी श्रावक को श्रमणभूत श्रावक कहा गया है। श्रावक की गोचरी का भी भगवान् ने स्वय विधान किया है।

[देखो पीछे पृष्ठ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र]

तेरापथी —

गृहस्थ रे घर लागी लायो, घर बारे निकलियो न जायो।
बलता जीव बिल बिल बोले, साधु जाय किवाड न खोले॥

(भी० अ० ढाल ७)

अर्थात् —गृहस्थ के घर मे आग लग गई हो, और घर के लोग बाहर न निकल सकते हों, बल्कि अन्दर ही बिलबिलाहट कर रहे हों, यदि ऐसे समय में साधु उधर जा निकले तो वह उन घर वालों की रक्षा के लिए किवाड न खोले। क्योंकि जो खोले वह एकान्त पाप करे।

जैनशास्त्र —अगर साधु को ऐसा भयंकर समय आ पडे, और साधु के किवाड खोलने मात्र से ही उन घर वालों की रक्षा होती हो तो साधु को उसी समय किवाड खोल कर उन की रक्षा अवश्य करनी चाहिए। इस मे किञ्चिन्मात्र भी पापांश नहीं है,

बल्कि उन जीवों का दुःख दूर करने से साधु एकान्त पुण्य (साता वेदनीय कर्म) का उपार्जन करता है।

(भगवती सूत्र पाठ देखो पीछे पृ०)

इस में भी पाप बताने वाला महामोहनीय कर्म का उपार्जन करता है। (दशाश्रुत स्कंध सूत्र)

तेरापंथी

कोई पाखंडी इम कहे रे, लाय बुझावे लोयो।
अल्प पाप बहु निर्जरा रे, दम्भकरी थापे दो यो॥

(भिक्षुजश रसायण पृ० ६७)

अर्थात्—कितने ही पाखंडी लोग ऐसा अपभाषण करते हैं, कि आग बुझाने में अल्प पाप और बहुत निर्जरा होती है, लेकिन ये दोनों बातें असत्य हैं, आग बुझाने में एकान्त पाप ही होता है, निर्जरा नहीं।

जैनशास्त्र —हे ! कालोदाई !

"तत्थण जे से पुरिसे अगणिकाय उज्जालेइ, सेण पुरिसे महाकम्मतरा ए चेव जाव महा वेयणतरा ए चेव, तत्थण जे से पुरिसे अगणिकाय निव्वावेइ सेण पुरिसे अप्पकम्मतरा ए चेव जाव अप्पवेयणा तराए चेव।"

(भगवती सूत्र श० १० उ० ७)

अर्थ —हे कालोदाइन् ! जो मनुष्य अग्नि को प्रज्वलित करता है अर्थात् आग लगाता है, वह महापाप (महावेदनाव)

का उपार्जन करता है। जो मनुष्य अग्नि को बुझाता है, वह अल्प और अल्प वेदना का भागी होता है। (क्योंकि —हिंसा अल्प है, और जीवों की रक्षा होने से तथा महारम्भ के पाप को समाप्त करने से और अनुकम्पा वाले विचार प्रवाह से बहुत निर्जरा होती है) ऐसा नहीं है, कि आग लगाने वाला भी महापापी तथा आग बुझाने वाला भी महापापी। यह तो तेरापंथियों का अलाही कारखाना है, जिसमें मारना भी महापाप बचाना भी महापाप, सेवा करना भी और धडाधड शिर पर जूते मारना भी एक समान महापाप है।

तेरापन्थ

गृहस्थ रा पग हेठे जीव आवे तो साधु ने बचावणो कठे हीन चल्यो। भारी कर्मा लोगा ने भ्रष्ट करण नें ओ पिण घोचो कुगुरा घाल्यो ॥

(भी० अ० आठवीं गा० ३८)

अर्थात्—गृहस्थ के पैर के नीचे आकर जीव मर रहे हों तो साधु गृहस्थी को सावधान करके भी जीव न बचावे, क्योंकि, यह बात शास्त्र में कहीं नहीं आई है, बल्कि मरते जीव को बचाने का अडंगा तो लोगों को भ्रष्ट करने के लिए कुगुरुओं ने चला दिया है।

इसी विषय में तेरापंथियों का स्वयं स्पष्टीकरण —कोई मनुष्य पाप करता है, जैसे कि कसाई बकरे को कत्ल करके पाप-

उपार्जन कर रहा हो, अथवा किसी का गला घोंट कर गाली देकर जब कोई मनुष्य पाप-कर्म कर रहा हो उस वक्त साधु को नहीं रोकना चाहिए, और नहीं कुछ करना चाहिए। क्योंकि, ससार के झगड़ों म साधु का दखल देना सर्वथा अनुपयुक्त है। अत साधु को पाप करते हुए को रोकना नहीं चाहिए। अगर कोई साधु रोकता है तो अन्तराय का और जीव बचाने का एकान्त पाप करना है।

जैनशास्त्र —अगर कोई मनुष्य अकार्य करता होवे, अथवा भूल से उससे हो रहा हो, जिस प्रकार अविवेक से पैर के नीचे जीव आकर मर रहा हो तो साधु उस अकार्य मे प्रवृत्त मनुष्य को शीघ्र रोके, और उसको बोध करा कर मरते हुए प्राणी की रक्षा करे। अगर ऐसा न करे तो उस साधु को निर्दयी मानना चाहिए।

पाठ देखिये

"त ओ आयरक्खाः—परिहरित्तएतं जहाधम्मियाए, पडिचोयणाए, पडिचोएत्ता भवई, तुसिणीए वा सिया उद्वित्तु वा आयाएगन्तमवक्कमेज्जा।"

(ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३)

अर्थात्—आत्मरक्षा के तीन बोल अगर कोई मनुष्य अकार्य मे प्रवृत्त हो, जैसे कि, कसाई बकरा मार रहा हो, कोई पथिक अविवेक से जीवों को पैर तले कुचलरहा हो, ऐसे मनुष्य को साधु

जीव रक्षा रूपी धर्म का महालाभ बताकर रोके और समझाए कि तुम्हारे जैसे मनुष्य को ऐसा अकार्य करना तथा दूसरे जीवोंका गला काटना व पैरसे जीवोंको दण्डना बिल्कुल अच्छा नहीं। अगर फिर भी सामर्थ्य से बाहर हो और किसी उपाय से भी न समझ सके, तो मौनव्रत धारण करके अन्यत्र चला जावे, वहां क्षण भर भी न ठहरे। अगर साधु इन अकार्य करते हुए मनुष्यों को उपदेश देकर अथवा किसी अन्य उपाय से मरते प्राणी की रक्षा न करेगा तो वह आज्ञा विराधक कहा जायगा।

तेरापथः—कोई लाय सू बतलाने काढ़ बचायो,
वले कूवे पडता ने बचायो।
वले तालाब मे डूबता ने बाहर काढे,
वले ऊचा थी पडता ने झालियो तायो॥
ए उपकार ससार तणो छे,
ससार तणो उपकार करे छे।
तिण रे निश्चय ही ससार बधे ते जाण।
(भी० अ० ढाल ११)

अर्थात्—अग्नि मे जलते जीवों को अगर कोई दयावान् मनुष्य बाहर निकाल कर बचावे, कूए मे गिरते की प्राण रक्षा करे, तालाब मे डूबते को बाहर निकाले, तथा ऊँचे स्थान से गिरते हुए को ऊपर से ही झेलकर उसे प्राण दान दे तो यह सब ससार के उपकार करने को ही वह दयावान् मनुष्य उपार्जन

करता है। ससार का उपकार करने से निश्चय ही भवभ्रमण बढता है। अर्थात् ऐसे पाप कर्म करने से ही प्राणी दुर्गतियों में भटकता फिरता है।

जैनशास्त्र —ठाणाङ्ग सूत्र मे तीसरे ठाणे मे भगवान् ने तीन प्रकार के उपकारी बताए है। जिनका उपकार चुकाया नहीं जा सकता। उन मे तीसरा उपकारी मौत के मुह से बचाने वाला है। जो अनुकम्पा युक्त भावना द्वारा मरते प्राणी की प्राण-रक्षा करके प्रचुर पुण्य का उपार्जन करता है।

तथा —भगवती सूत्र मे भी ऐसा फरमाया है, कि जो मनुष्य अग्नि में जलते जीव को बाहर निकाल कर उस की उष्ण तापमयी व्यथा को दूर करता है, कुए मे गिरते को बचाकर उसका शोक मिटाता है, तालाब में डूबते की रक्षा कर के उसे प्राण दान देता है, तथा ऊँचे स्थान से गिरते को ऊपर से ओट कर जो कोई उसे अभय दान देता है, वह प्रचुर पुण्य अर्थात् सातावेदनीय पुण्य प्रकृति को बाधता है। जैसे —

अजूरण याए, अदुक्खणायाए, असोयण याए।"

(भगवती सूत्र शतक ७३०६ पृ० ११७)

अर्थात् —शोक मिटाने से, दुःख मिटाने से, भय दूर करने से महा-पुण्य का उपार्जन होता है। जिससे धर्म की ओर मनुष्य अग्रसर होता है। ऐसे महापुण्योत्पादक कार्य करने से प्राणी कभी भी दुर्गतियो मे नहीं भटकता।

विशेष विचार —ऐसे पुण्य कार्य को पाप कार्य कहने वाले स्वय ही ससार के जन्म मरण रूप चक्र में फँसते हैं ।

तेरापथ

(१) कोई वैद्यगरी करने लोका री रोग गमावे ने जीव बचावे । ओ उपकार लोका सू कीन्हो, आगे लाग्यो राग चलियो जावे ॥

(ढा० ११ गा० ४६)

(२) गृहस्थ ने औषध भेषज देई न अनेक उपाय कर जीव बचावे । यह ससार तणो उपकार किया में मुक्ति रो मार्ग मूढ़ बतायो, भेषधारी भूला गै निर्णय कीजे ।

(अ० ढाल ८ पृ०७६)

अर्थ (१) —यदि वैद्य किसी का रोग दूर करता है, और दयावश मृत्यु के मुँह से बचाता है, तो यह भी राग है । इसलिए ऐसा करना एकान्त पाप है ।

अर्थ (२) —औषधि भेषज आदि देकर अथवा अन्य किसी उपायों से रोगी के रोग को दूर करना, अपना भवभ्रमण बढा लेना है । मूढ लोग इसे मुक्ति का मार्ग बताते हैं ।

हे भेषधारियो ! अपनी इन भूलों का निर्णय करो, फिर न कभी ऐसे कार्यों मे पुण्य बना देना यह तो एकान्त पाप के कार्य है ।

जैनशास्त्र—अगर वैद्य स्वार्थ पूर्ति के लिए रोगियों की चिकित्सा करता है, तो यह बात अलग है। यह ससारी व्यवहार है। हा अगर वैद्य अनुकम्पा से किसी रोगी की नि स्वार्थ भाव से चिकित्सा करता है, तो वह महान् पुण्य का उपार्जन करता है, तथा सातावेदनीय पुण्य प्रकृति को बाधता है।

(भगवती सूत्र)

जो वह औषध भेपज रूप परिग्रह का सम्यक् त्याग करता है, उससे धर्म का महा लाभ होता है।

विशेष विचार —ऐसे अनुकम्पा पूर्ण शुभ कार्यों को भी पाप बताना अपनी मूर्खता प्रकट करना है।

तेरापथ—व्याधि अनेक कोढ़ादिक सुनीने,
तिण ऊपर वैद्य गोली चलाई ने आवे।
अनुकम्पा आणी माजे कीधो,
गोली चूरण दे रोग गमावे॥
आ अनुकम्पा सावद्य जाणो।

(ढा० १, पृ० ४)

अर्थात् —कोढ आदिक अनेक व्याधिया सुनकर रोगी के लिए वैद्य आया, और उसने दयावश होकर गोली चूरण आदि देकर रोग मिटा दिया। यह दया "सावद्य" समझो,, अर्थात् पाप पूर्ण मानो।

जैन शास्त्र —अनुकम्पा करके औषध पथ्य आदि का कामी होने से सनत्कुमारेन्द्र चरिम भाव वाला वना।

(भगवती सूत्र)

इसी प्रकार ठाणाग सूत्र के नौवें ठाणा मे नौ प्रकार के पुण्यों में किसी का हित चाहने से पुण्य बन्ध होता है ऐसा फरमाया है। इन पाठों के अनुसार वैद्य भी अनुकम्पा करके किसी रोगी का दवाई चूर्ण देकर रोग मिटावेगा तो अवश्य वह पुण्य का खजाना पावेगा। अनुकम्पा मे पाप वताना महा मोहनीय कर्म वाधना है।

तेरापथ —

वाछै मरणो जीवणो तो धर्म तणो नही अश।
ए अनुकम्पा कीधा थका वधै कर्म नो वश॥

अर्थात् —अगर कोई प्राणी जीने और मरने की इच्छा करे तो उसमे धर्म का लेशमात्र भी लाभ नहीं होता। दूसरे प्राणी की रक्षा के लिए अनुकम्पा करने से कर्मो का वश (समुदाय) ही वढता है।

अर्थात् —पाप का भार अधिक ही होता है, जिस के कारण अनेक दुर्गतियों मे जाकर उसका दुष्फल भोगना पडता है।

जैन शास्त्र —

वाछै मरणो जीवणो धर्म तणे जे काज।
मतधारी जे शूरमा (जा) सारया आत्मकाज॥

अनुकम्पा कीधा थका कटे कर्म नो वश।
ठाणा अङ्ग चौथे कह्यो मोह तणो नहीं अश॥
(जवाहिराचार्य कृत अ० ढा० गा० ८)

अर्थात् —जो कोई मनुष्य धर्म के लिए जीवे और मरने की इच्छा करता है, वह ही शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करता है, और धर्म के बल से अज्ञान नष्ट करता है। क्योंकि —

ऐसे ही धर्मात्मा सत्यवारी पुरुषों ने वीरता से धर्म के लिए जीने, और धर्म के लिए मरने की प्रतिज्ञा करके अपनी आत्मा का और दूसरों की आत्मा का कार्य साधा है।

विशेष —जो भी मनुष्य अनुकम्पा करता है, उसके पाप कर्मों का समूलत नाश हो जाता है। ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं। जिसमें स्पष्ट दर्शाया गया है, कि जो पुरुष अपनी और पर की अनुकम्पा करता है वह ही साधु है दूसरा नहीं।

आयाणुकम्पए, णाम मेगे पराणुकम्पए, जाव० ॥
(ठाणाङ्ग सूत्र, ठाणा, ४)

अर्थात् —संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं।

१—अपनी आत्मा की ही अ कम्पा करने वाले।

२—परोपकार की भावना को लिए अपर जीवों की ही अनुकम्पा करने वाले।

३—अपनी और दूसरों की भी अनुकम्पा करने वाले।

४—न अपनी आत्मा की अनुकम्पा करने वाले, न दूसरों की आत्मा की अनुकम्पा करने वाले, भी मनुष्य होते हैं।

इस चौभङ्गी के तीसरे कोष्ठक का स्वामी, भगवान् ने सच्चे साधु को ठहराया है। जो अपनी आत्मा के कल्याण के लिए तप त्याग सत्तरह प्रकार के सयम का पालन करता है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह साधु नहीं समझा जा सकता।

तेरापथ —

जीव बचावे मुनि नही पर नें न कहे बचाव,
भलो न जाणे बचावियां० ॥

(अ० ठा० ६)

अर्थात् —साधु किसी जीव की स्वय रक्षा करे नहीं, दूसरे को रक्षा करने के लिये उपदेश भी न दे। अगर कोई जीव रक्षा कर रहा हो तो साधु उसको मन से भी अच्छा न जाने। क्योंकि —

जीव रक्षा करने मे एकान्त पाप है।

जैन शास्त्र —

सव्वे हिं भूए हि दयाणुकम्पे खन्तिक्खमे सयम बभयारी।
सावज्जजोग परिवज्जयन्तो चरिज्ज भिक्खु सुसमाहि इन्दिए॥

(उत्तराध्ययन सूत्र अ० २१, गा० १३)

अर्थ —शास्त्रकार साधु का मुख्य कर्त्तव्य ही जीव रक्षा बताते हैं। कि, साधु सर्व जीवों की अनुकम्पा और दया करे,

अनुकम्पा कीधा थका कटे कर्म नो वंश।
ठाणा अङ्ग चौथे रयो मोह तणो नहीं अश ॥

(जवाहिराचार्य कृत अ० ढा० गा० २)

अर्थात् —जो कोई मनुष्य धर्म के लिए जीवे और मरने की इच्छा करता है, वह ही शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करता है, और धर्म के बल से अज्ञान नष्ट करता है। क्योंकि —

ऐसे ही धर्मात्मा सत्यधारी पुरुषों ने वीरता से धर्म के लिए जीने, और धर्म के लिए मरने की प्रतिज्ञा करके अपनी आत्मा का और दूसरों की आत्मा का कार्य साधा है।

विशेष —जो भी मनुष्य अनुकम्पा करता है, उसके पाप कर्मों का समूलत नाश हो जाता है। ठाणाङ्ग सूत्र के चौथे ठाणे में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं। जिसमें स्पष्ट दर्शाया गया है, कि जो पुरुष अपनी और पर की अनुकम्पा करता है वह ही साधु है दूसरा नहीं।

आयाणुकम्पए, णाम मेगे पराणुकम्पए, जान० ॥

(ठाणाङ्ग सूत्र, ठाणा, ४)

अर्थात् —संसार में चार प्रकार के मनुष्य होते हैं।

१—अपनी आत्मा की ही अनुकम्पा करने वाले।

२—परोपकार की भावना से लिए अपर जीवों की ही अनु कम्पा करने वाले।

३—अपनी और दूसरों की भी अनुकम्पा करने वाले।

४—न अपनी आत्मा की अनुकम्पा करने वाले, न दूसरों की आत्मा की अनुकम्पा करने वाले, भी मनुष्य होते हैं।

इस चौभङ्गी के तीसरे कोष्ठक का स्वामी, भगवान् ने सच्चे साधु को ठहराया है। जो अपनी आत्मा के कल्याण के लिए तप त्याग सत्तरह प्रकार के सयम का पालन करता है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह साधु नहीं समझा जा सकता।

तेरापथ —

जीव बचावे मुनि नहीं पर नें न कहे बचाव,
भलो न जाणे बचावियां० ॥

(अ० ठा० ६)

अर्थात् —साधु किसी जीव की स्वय रक्षा करे नहीं दूसर को रक्षा करने के लिये उपदेश भी न दे। अगर कोई जीव रक्षा कर रहा हो तो साधु उसको मन से भी अच्छा न जाने। क्योंकि —

जीव रक्षा करने मे एकान्त पाप है।

जैन शास्त्र —

सव्वे हिं भूए हिं दयाणुकम्पे खन्तिक्खमे सयम बभयारी।
सावज्जजोग परिवज्जयन्तो चरिज्ज भिक्खु सुसमाहि इन्दिए॥

(उत्तराध्ययन सूत्र अ० २१, गा० १३)

अर्थ —शास्त्रकार साधु का मुख्य कर्त्तव्य ही जीव रक्षा बताते हैं। कि, साधु सर्व जीवों की अनुकम्पा और दया करे,

पुन क्षमा, संयम और ब्रह्मचर्य आदि महाव्रतों का पालन करता हुआ विचरे। साधु सावद्य योगों का परित्याग करता हुआ, इन्द्रियों पर विजय पाकर भिक्षु निष्कटक संसार मे विचरे। इस शास्त्र के पाठ मे जीव बचाना ही साधु का प्रथम कर्त्तव्य बताया गया है। इसलिए शास्त्र मे —

"सव्वे हिं भूए हिं दयाणुकम्पे"

आदि पाठ आया है। अर्थात् —सब जीवों की दया और अनुकम्पा करना ही साधु का मुख्य कर्त्तव्य है।

अब यह पाठ तो रहा साधु के जीव बचाने के विषय मे, अब यह आप साधु का उपदेश और प्रयत्न क्या होना चाहिए, शास्त्र कार बताते हैं

जइतंसि भोगे चइउ असत्तो,
अज्जाइ कम्माइ करे हिं राय।
धम्मेठियो सव्व पयाणु कम्पी,
तो होसि देवो इओ विउव्वी ॥

(उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३ गा० ३२)

अर्थ —हे राजन्! हे ससारा सक्त! हे लिप्त! अगर तू विषय वासना को नहीं छोड सकता, तब सयम का पालन नहीं कर सकता, सासारिक उपभोगों को छोड़ने मे एक दम असमर्थ है। तब तू गृहवास मे ही अपने धर्म म दृढ बना हुआ दया आदि आर्य धर्म करेगा, तथा सब जीवों को अनुकम्पा दान देगा,

और इन दु:ख सकट से घिरे से घिरे हुए प्राणियों के बचाने का प्रयत्न करेगा, तो भी तुझे स्वर्ग की प्राप्ति हो जावेगी।

इस पाठ मे स्पष्ट दर्शाया है कि जो कोई प्राणी जीवों को बचाता है, और उनकी रक्षा के लिए अपना पूरा बल लगा देता है, ऐसा पुरुष बेशक वह गृहस्थी ही क्यों न हो, उसे स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है।

परामर्श —ऐसा पाठ देख लेने पर भी जीव बचाने मे एकात पाप बताना अज्ञान का परिणाम नहीं तो और क्या समझना चाहिए।

तेरापथ —जीव रक्षा करनी साधु के लिए भी आवश्यक अगर किसी शास्त्र के मूल पाठ मे बताई गई हो, और साधु जीव रक्षा निमित्त क्या क्या कार्य करता है, उसका भी निर्देश किया गया हो तो दिखाइए ?

हमारी समझ मे तो साधु बनने का उद्देश्य जीवन रक्षा नहीं, बल्कि अपनी आत्मा को पाप से बचाना है। छ काय के आरभ का और गृहस्थारभ का परित्याग करना है।

हा अगर साधु का एक भी ऐसा कार्य हा जिस मे प्राणियों के प्राण की रक्षा के लिये ही उसे ऐसा करना पडता हो। अर्थात् जिसका उद्देश्य जीव रक्षा ही हो तो प्रमाण के लिए शास्त्र पाठ दिखलाइये ?

जैनशास्त्र —

वेयण वेयावच्चे इरियट्ठाए य सयमट्ठाए।
तह पाणवतियाए छट्ठ पुण धम्म चिन्ताए॥
(उत्तराध्ययन सूत्र अ० २६ गा० ३३)

अर्थात —साधु छः कारण से आहार करता है।

१—क्षुधा दूर करने के लिए,
२—वैयावच्च करने के लिए,
३—इरिया शोधन के लिए,
४—संयम पालन के लिए,
५—अपने प्राणों तथा छः कायिक प्राणियों की रक्षा के लिए
६—धर्म ध्यान चिन्तवन के लिए।

इन छः कारणों से साधु आहार का उपभोग करता है। इन कारणों में से पाचवा कारण शास्त्रकार ने —"तह पाणवतियाए" कहा है। अर्थात अपने तथा छः काय के प्राणों की रक्षा के लिए साधु आहार करे।

तेरापथी इन दोनों बातों को एकान्त पाप मे गिनते हैं। क्योंकि तेरापथियों के पास जीवरक्षा के विरोध मे युक्ति यही है, कि साधु ने जब अपने प्राणों की ही रक्षा नहीं करनी तो दूसरे प्राणियों की रक्षा वह कैसे कर सकता है। बात भी ठीक है जब हमने ही व्रत कर लिया है तो गुरुजनों के लिये भी आहारादि

कैसे लाया जाये। यह बुद्धि की विचित्र खोज है। परन्तु शास्त्रकार तो इन दोनों का ही कारण बताते है।

तेरापथियों को चाहिए अगर उन्होंने आहार करना है तो छ काय के प्राणों की भी रक्षा करनी पडेगी, नहीं तो उन्हें आहार का त्याग कर देना पडेगा, किन्तु आहार के परित्याग के कारण भी शास्त्र ने जीव रक्षा ही उद्देश्य रखकर बतलाए हैं। जैसे कि —

आय के उवसग्गे तितिक्खया बभचेरगुत्ति।
सुपाणिदया तव हेउ सरीर वोच्छेयणट्ठाए॥
(उत्तराध्ययन अ० २६ गा० ३५)

अर्थात् —साधु छ कारणों से आहार का त्याग करे।

१—असाध्य रोग होने से
२—मरणान्तक उपसर्ग होने से
३—ब्रह्मचर्य पालने के लिए
४—छ काय और त्रसकाय के जीवों की दया के लिए
५—तप करने के लिए
६—शरीर को उत्सर्जन करने के लिए

इस पाठ मे भी चौथा कारण छ काय और त्रसकाय के जीवों की रक्षा करना ही बतलाया है। अब देखिए कि साधु भोजन स्वय क्यों नहीं तैयार करते, इस में क्या कारण है।

तहेव भत्तपाणेसु पयणे पयावणेसु य ।
पाण भूय दयट्ठाए न पये न पयावये ॥
(उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थात्—आहार बनाने में त्रस (वे इन्द्रिय से लेकर पचे न्द्रिय तक) और स्थावर (एकेन्द्रियादि) जीवों का वध होता है। इसलिए साधु उन की दया के लिए भोजन स्वय न बनावे, न बनवावे और न ही बनवाने को अच्छा समझे।

इस पाठ से यह स्पष्ट हो गया है, कि जो साधु भोजन बनाने का परित्याग करता है वह केवल त्रस और स्थावर जीवों को बचाने के लिए ही परित्याग करता है।

साधु बनने का उद्देश्य ही छः काय के जीवों की रक्षा करना है। अपने पवित्र उद्देश्य अर्थात् जीवों की रक्षा करने में भी एकान्त पाप बताना अपनी विरोधी भावना को प्रकट करना है।

तेरापंथ—त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा में समान पाप है। त्रस के हिंसक और स्थावर जीवों के हिंसक सदृश ही पापी होते हैं। जैसे उन्होंने लिखा है—

"जिम कोई कसाई पाच सौ २ पञ्चेन्द्रिय जीव नित्य हणे छे, ते कसाई ने कोई मारतो हुवे तो तिण ने उपदेश देवे। ते तिण ने तार वाने अर्थे पिण कसाई ने जीव तो राखण ने उपदेश न देवे। जो कसाई जीवतो रहे तो आछो, इम कसाई नो जीवणो

वाळणो नहीं। केई पञ्चेन्द्रिय हयणे केई एकेन्द्रि हणे छे। ते माटे असयति जीव ते हिंसक छे। हिंसक नो जीवणो वाञ्छिया धर्म किम हुवे ?"।

अर्थात्—तेरापथी साधु अपने सिवाय सब को ऐसा ही हिंसक कहते हैं, जैसा कि हिंसक नित्य पाच सो गाय या बकरे आदि पञ्चेन्द्रिय जीव मारने वाला कसाई होता है, तथा सब जीवो को चाहे वह श्रावक हो या तेरहपथ सम्प्रदाय के सिवाय अन्य किसी सम्प्रदाय का साधु भी हो, नित्य पाच सौ गाय मारने वाले कसाई की तरह हिंसक ठहरा कर कहते है, कि ऐसे हिंसक को बचाने अथवा दान देने या उनकी सेवा सहायता करने से धर्म कैसे हो सकता है।

यह सब तो पाप ही है। तेरापथी साधु एकेन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवों को समान तथा एकेन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवो की हिंसा को समान कहते है, तथा एकेन्द्रिय जीव की हिंसा करने वाले को भी उस कसाई की तरह हिंसक कहते है, जो पाच सो गाय बैल नित्य मारता है।

जैनशास्त्र—सब्जी का भोजन आर्य है। मास का भोजन अनार्य है। आर्य भोजन करने वाले को स्वर्ग और अनार्य भोजन करने वाला नरक मे जाता है।

अब आप देखिए वे इन्द्रियादि जीवों के समारम्भ करने से क्या लाभ होता है। और पञ्चेन्द्रिय जीवो के समारम्भ करने से क्या फल मिलता है। जैसे—

"वे इदयाण जीवा असमारंभमाणस्स चउव्विहे सजमे कज्जइ तजहा जिब्भमयाओ सोक्खामो अवरो वेत्ता भवइ, जिब्भा मएण दुक्खेण असजो गेत्ता भवइ। फासामयाओ सोक्खाओ अववरो वेत्ता भवइ। फासाभामयाओ दुक्खाओ असजोगेत्ता भवइ, एव वे इन्दिया जीवा समारभमाणस्स चउव्विहे असंजमे कज्जइ"॥ (ठाणाङ्ग सूत्र)

अर्थात् --वे इन्द्रिय द्वीन्द्रिय जीवा की हिंसा न करने से और उन की रक्षा करने से चार प्रकार के सुख रूप फलों की प्राप्ति होती है —

१—वाणी का मधुर होना।

२—जिह्वा का नीरोगपन होना

३– स्पर्शेन्द्रिय को सर्व सुख साधन मिले

४—त्वचा का मुलायम व स्वस्थ रहना

ये चार प्रकार के लाभ ने इन्द्रिय जीवों की रक्षा करने में प्राप्त होते हैं।

इसी प्रकार वे इन्द्रिय जीवो का समारंभ करने से चार प्रकार के दु ख मिलते हैं—

१—गू गापन

२—रोगिणी जिह्वा

३—स्पर्श सुखो की अप्राप्ति

४—स्पर्शेन्द्रिय से ही शून्य

वे इन्द्रिय जीवों की हिंसा करने से इन चार प्रकार के कष्टों को भुगतना पड़ता है।

इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय जीवों की रक्षा करने से दश प्रकारका सुख मिलता है, और हिंसा करने से दश प्रकार,के दु ख मिलते हैं। जैसे —

"पचिदियाण जीवाण असमारभ माणस्म दसविहे सयमे कज्जइ। त जहाः—सोयामयाओ अवनरो विता भवइ, सोयामएण दुक्खेण असजोइत्ता भवइ। एव जाव फासामएण दुक्खेण असजोइता भवइ। एव असयमो भणियव्वो" ॥

(ठाणाङ्ग सूत्र ठा० १०)

अर्थात् —पञ्चेन्द्रिय जीवों की रक्षा करने से दश प्रकार के सुख का लाभ होता है —

१—श्रोत्रेन्द्रिय (कान) को पूर्ण सुख प्राप्ति, और कान से होने वाले दु खों से विमुक्ति।

२—चक्षु इन्द्रिय (आँख) को लुभाने वाले आनन्द का मिलना, और नेत्र का सर्वथा नीरोग रहना।

३—घ्राणेन्द्रिय (नाक) को अभीष्ट वस्तुओं का मिलना और रोग आदि से रहित होना।

४—रसेन्द्रिय (जिह्वा) को सुस्वादु पदार्थों का उपभोग करना और दु खों का विनाश होना।

५—स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) को उबटन आदि नर्म वस्तुओं से स्पर्श सुख लेना और दु ख से सर्वथा छुटकारा मिलना।

यह तो पञ्चेन्द्रिय जीवों का समारम्भ न करने का फल।

इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा करने से दश दुष्फल प्राप्त होते हैं। जैसे —

श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रस, स्पर्श आदि इन्द्रियों को किसी भी आनन्द दायक वस्तु का सयोग प्राप्त न होना, और सर्वथा बहरापन, अन्धत्व, सू घने की शक्ति से शून्य होना, गूगापन, और त्वचा का रोगिणी रहना या अन्य रोगों से लिप्त रहना पडता है।

पाठक समझ गए होंगे कि त्रस जीवों की हिंसा को समानता नहीं है तो स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा को समान कहना कितना अज्ञान है।

तेरापथियों की मान्यतानुसार मनुष्य का गला काट देना और वनस्पति काट लेना एक समान है।

शास्त्र में भी त्रस जीवों की हिंसा करने से ऐसे २ कठोर दुःखों का प्राप्त होना लिखा है, परन्तु स्थावर जीवों की हिंसा करने से भी इतना ही भयानक दु ख मिलता है। ऐसा कहीं उल्लेख नहीं आया, कि स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा मे समान पाप है।

शास्त्र मे तो यह स्पष्ट कह दिया गया है, कि स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीवों की हिंसा मे महान् पाप होता है, परन्तु तेरा

पथी स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा में समान पाप मानते है, न जाने यह मन घडन्त सिद्धान्त तेरापथियों ने कहा से उठाया है। कम से कम तेरपथियों को इतना तो समझ लेना था, कि हिंसा क्या होती है। जीवों की हिंसा से क्या अभिप्राय है? तेरापथियो ने तो इस बात को पल्ले बाध लिया है, कि सर्व जीव जीवत्वेन समान है, किन्तु इस बात को उन्होने नहीं सोचा कि प्राणत्व तथा पुण्यत्व से सर्वजीव समान है या कि नहीं। उन्होंने तो कानी हथिनी की तरह सर्वत एक ही आग से हेर लिया है, कि जीव जीव की हैसियत से समान है।

अगर वे इस बात से भी परिचित हो जाते कि एकेन्द्रिय जीव में चार प्राण ही होते हैं, जिन्हें हम जीव मर गया नाम से व्यवहृत कर देते हैं। वास्तव मे जीव के प्राण समाप्त हो जाया करते हैं, और जीव अपना कोई नया घर ढूढ लेता है, वहा जाकर वह नए प्राण धारण कर लेता है।

उसमे हिंसा की कोई बात नहीं हिंसा तो उसे कहते है, कि जब कोई किसी का गला काटता है, या मर्मान्तिक पीडा पहुचाता है, तो मरने वाला प्राणी आर्त रौद्रध्यानस्थ हुआ पाप सचय किया करता है, और घातक उग्र विचारों से बुरा चिन्तवन करता हुआ मारा करता है। उस समय मारने वाला परवशपने असह्य पीडा सहता है, किन्तु मारने वाला वडे बुरे विचारों से उसके प्राणान्त करने मे तत्पर रहता है। इसी का नाम वास्तव मे हिंसा है।

आचार्य उमास्वाति

"प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपण हिंसा"

(तत्त्वार्थ सूत्र ७।८)

अर्थात् —जो प्राण वध प्रमत्त, याग से प्रमाद के वशीभूत हो कर किया जाए वह हिंसा है तात्पर्य कि, किसी प्राणी के बुरे विचारों से प्राण निकाल देने का नाम हिंसा है।

पञ्चेन्द्रिय जीव को मारने के लिए मनुष्य को जितना स्वार्थान्ध बनना पड़ता है, जितने विकृट और हिंसक विचार मन में लाने पडते हैं उतने स्थावर जीवों को मारते हुए उग्र कुविचार मनुष्य के हृदय में जाग्रत नहीं हुआ करते, इन मे पाप भी न्यूनाधिक है।

स्थावर जीवों के आरंभ मे अल्प पाप और त्रस समारभ में महापाप होता है।

शास्त्र में त्रस जीवों के मार देने से ही महा मोहनीय कर्म बान्धना कहा है।

स्थावर जीवों के वध से नहीं माना गया। राजा, राष्ट्रनेता, और साधु आदि के मार देने से ही महामोहनीय कर्म का बन्ध होना कहा है, वैसे नहीं।

जान बूझ कर स्थावर हिंसा करने वाला श्रावक बन सकता है, किन्तु जान बूझ कर त्रस प्राणियों का विराधक श्रावक नहीं बन सकता।

इन बातों से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है, कि स्थावर और त्रस प्राणियों की हत्या मे महदन्तर है।

इन मे समान पाप बताना अपनी खोपली बुद्धि का परिचय देना है।

तेरहपंथ और जैन धर्म

मैं पहले भी लिख आया हू, कि तेरह पथ और जैन धर्म में सैद्धान्तिक और धार्मिक तथा सास्कृतिक अत्यन्त गहरा मतभेद है। उन्हें एक कह देना सत्य का गला घोट देना है। इसी बात को अब मैं अपने स्फुट विचारों मे प्रकट करूगा।

१—तेरापथ —धर्म के दो भेद हैं संवर और निर्जरा।

२—जैन धर्म, धर्म के दो भेद हैं, श्रुत और चरित्र। (देखिए कितना भेद है)

३—तेरापथ, अनुकम्पा के दो भेद हैं,सावद्य और निरवद्य।

४—जैन धर्म, अनुकम्पा सदा ही निरवद्य होती है, सावद्य नहीं।

५—तेरापथ, प्राणी के प्राण रक्षा करने मे एकान्त पाप है।

६—जैन धर्म, प्राणी के प्राण रक्षा करने मे एकान्त धर्म होता है।

७—तेरापथ, रात्री के वक्त साधु के मकान मे स्त्रिया भी आ सकती है।

८—जैन धर्म, जैन साधु दिन मे भी स्त्रियों से प्रमाणोपेत गत कर सकता है, रात्री मे तो साधु के मकान मे स्त्रियों का आना साधुता के लिए भारी कलङ्क है।

९—तेरापथ, दीक्षा कुपात्र को ही दी जाती है।

१०—जैन धर्म, कुपात्र को दीक्षा देने वाला स्वयं कुपात्र होता ; और निशीथ सूत्र मे कुपात्र को दीक्षा देने वाले के लिए ौमासिक प्रायश्चित् लेने का दण्ड लिखा है।

११—तेरापथ, कुपात्रों का ही अन्न साधुओं को खाना पडता है।

१२—जैन धर्म, कुपात्र का अन्न नहीं खाना चाहिए। कुपात्रों का अन्न खाने वाला सुपात्र कैसे बन सकता है? वह तो कुपात्र ही रहेगा। कहा भी है —

जैसा खाए अन्न, वैसा होवे मन।

१३—तेरापथ, विहार करते हुए मार्ग मे अपने साथ एक या दो गृहस्थी अवश्य रखने चाहिए और उनसे भोजन लेकर भी खा लेना चाहिए, इसमे कोई दोष नहीं।

१४ - जैन धर्म, विहार करते हुए साधु को साथ मे चलते हुए गृहस्थी का अनुमोदन भी नहीं करना चाहिए, और न ही उनसे भोजन लेना चाहिए। अगर कोई साधु लेता है तो उसे शास्त्रानुसार चौमासी प्रायश्चित् आता है।

१५—तेरापथ, एक गुरु के ही सब शिष्य होने चाहिए।

१६—जैन धर्म, समयानुसार सब कार्य उचित प्रणाली से ही होने चाहिये। शास्त्र में तो ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं आता, कि सर्व शिष्य एक गुरु के ही होने चाहिये।

हा शास्त्र मे ऐसे पाठ तो बहुत आते हैं, जहा भगवान् ने स्वय अपने हाथ से दीक्षा दी, किन्तु उन्हें शिष्य किसी और ही स्थविर का बनाया। जैसे —

"ततेण अरहा अरिट्ठनेमी थावचापुत्तस्स अणगारस्स त इब्भाइय अणगार सहस्स सीसत्ताए दलयति" ॥

(ज्ञाता सूत्र अध्ययन ५)

अर्थात् —श्री अरिष्टनेमी (नेमिनाथ) भगवन्त ने इब्भ वगैरह एक हजार अनगार को थावच्चा पुत्र अनगार के शिष्य बनाए।

ऐसे ही अन्तगढ सूत्र में भी उल्लेख आए हैं। जिनमे यह बात स्पष्ट की गई है, कि भगवान महावीर ने भी अपने हाथ से दीक्षा तो दी किन्तु शिष्य किसी अन्य स्थविर के बनाए।

१७—तेरापथ, सर्व साधुओं का एक ही आचार्य होना चाहिए।

१८—जैन धर्म, भगवान्महावीर के समय में भी एकादश गणधर थे। कल्प सूत्र में यह आज्ञा खुली दी है, कि श्री सघ अगर दो या इससे अधिक आचार्य बनाना चाहे तो बना सकता है।

अत इनकी उपर्युक्त आशका भी निराधार सी दीखती है।

१६—तेरापथ, ओसवाल जाति का ही मनुष्य आचार्य पद का अधिकारी हो सकता है। दूसरी जाति का नहीं।

२०—जैन धर्म, रूढिवाद से चलने वाले जातित्व वाद के घमण्ड को समूलत नष्ट करना और कर्मवाद का प्रचार करना ही जैन धर्म का परम उद्देश्य है। आचार्यपद आचार्य के गुणों से जो भी पुरुष युक्त हो, बेशक वह किसी भी जाति से सम्बन्ध रखता हो, वह सहर्ष आचार्य बनाया जा सकता है।

स्वय श्रमण नायक भगवान् महावीर क्षात्रय थे। गोतम स्वामी और सुधर्मा स्वामी आदि गणधर ब्राह्मण थे।

२१—तेरापथ, अग्रवाल और ओसवाल जाति के बिना किसी को भी साधु नहीं बनाना चाहिए, अगर बनाना ही पडे तो उससे आहार पानी इकट्ठा नहीं करना चाहिए [जैसा कि, तेरापथी करते हैं ओसवाल के सिवा दूसरी जाति के साधु तेरापथी से भी आहार एक माण्डले पर नहीं करते।]

क्योंकि, दूसरी जाति का मनुष्य सयम अच्छी प्रकार नहीं पाल सकता।

२२—जैन धर्म, ससार के प्रत्येक मनुष्य को भगवान ने खुली आज्ञा दी है, कि पांच महाव्रत धारण करके प्रत्येक मनुष्य श्रमण निर्ग्रन्थ बन सकता है। सब साधु एक है, उनकी जाति पांति सब कुछ साधु ही है। उनका एक माण्डले पर ही आहार करना प्रशस्ततर है। जैन धर्म कर्मवाद को मानता है। जाति वाद को नहीं। भगवान महावीर उत्तराध्ययन सूत्र में फरमाते हैं —

कम्मुणा बम्भणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥
(उ० अ० २५ गा० ३३)

अर्थात्—आचरण से ही ब्राह्मण होता है, और आचरण से ही क्षत्रिय; वैश्य और शूद्र भी आचरण से होता है।

जातिवाद पर विश्वास रखने वाले इस पाठ पर अच्छी प्रकार विचार करें, और निम्न लिखित बात को ध्यान से पढ़े।

गौतम गणधर कौन थे?	ब्राह्मण।
अभयकुमार कौन थे?	क्षत्रिय।
जम्बुकुमार कौन थे?	वैश्य।
हरिकेशबलमुनि कौन थे?	चाण्डाल शूद्र।
महर्षि मेतारज कौन थे?	चा० शूद्र।

यह है जैन धर्म का मुनि संघ। जिसमें हमें निरवच्छिन्न अविराम गति से बहता हुआ प्रत्येक जाति का संगम रूप उद्गम दिखाई देता है। आज का संसार जातिवाद की हानि को समझ चुका है।

विशेषत भारतवर्ष में तो श्रमण नायक भगवान् महावीर ने ही आर्य जाति का विशाल निर्माण कर इन रूढि प्रचलित ऊँच, नीच, ब्राह्मण और शूद्र आदि भेदों को व्यर्थ सा बना डाला है। आर्य आचरण करने वाले ही आर्य जातीय है ऐसा लक्षण कर के तो समस्त आर्य गुणाढ्य पुरुषों को एक माला में गूंथ दिया है।

आज भी तेरापथी धर्म की दुहाई देकर जातिवाद के फासिज्म को जन्म देना चाहते हैं, किन्तु शास्त्र के नाम पर यह घोर अनर्थ हम भी नहीं होने देंगे।

तेरापंथी और जैन धर्मी

जिस समाज का नेता ही दया, दान और परोपकार का शत्रु हो, धर्म का विरोधी हो तो उसकी भावी सन्तान कैसे दयालु वदान्य (दानी) और धर्मात्मा बन सकती है।

इतिहास साक्षी है, आज तक जितने भी मत, पथ और धर्मो ने ससार पर फैलना प्रारम्भ किया है, वे सब अपने २ गुणों को भी साथ मे फैलाते चले हैं। प्रत्येक धर्म और पथ की भिन्न भिन्न विशेषताए होती है, किन्तु मैं तेरापथियों और शुद्ध पुरातन जैन धर्मियों की विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करूगा। क्योंकि, ये ही आदर्श कथाए युग युग तक नव जीवन सञ्चार किया करती है।

१—सरदार शहर की एक घटना है, कि एक तेरापथिन बहिन के सामने उसके पुत्र ने अफीम खाली बालक अबोध था। माता ने उसे इसलिए नहीं रोका, कि इसमे महा पाप लगेगा। उस बहिन ने अपने तेरापथ के नाम पर अपने पुत्र का बलिदान कर दिया। उसके हृदय की दृढता प्रशसनीय है, किन्तु नासमझी दयनीय है। इसके लिए तेरापथ के सिद्धान्त और उसके प्रचारक ही जिम्मेवार है। इस कथा से निर्दयता का कितना सुन्दर उपदेश मिलता।

माताओ ! ज़रा ध्यान से पढ़ना

२—सन् १९४२ की अतिवृष्टि के कारण सरदार शहर की तरफ बहुत से गरीब बे घर बार हो गए थे। खाने को कुछ रहा नहीं। सहायता के लिए चन्दा एकत्रित किया गया। तेराप थियों की ओर से कुछ नहीं मिला। सुना गया है कि सरदार शहर के एक धनी सेठ को बहुत दबाया गया तो उसने हिचकते हुए और पाप समझते हुए बड़ी कठिनाई से दो सौ रुपए दिए। साथ मे यह हिदायत करदी कि इन रुपयों को अनाज खरी-दने मे मत लगाना। दानियो! ज़रा सावधान होकर ही दान देना चाहिए। अब परिग्रह के त्यागने में और अनुकम्पा करने में भी एकान्त पाप लगने लग पड़ा है ?

३—सरदार शहर मे सोहनलाल जी बरड़िया नाम के एक सज्जन जो कट्टर तेरापथी श्रावक थे। सन १६२८-२९ के लगभग वे अपना एक मकान बना रहे थे। मकान बनाने के लिए पानी भरने के लिए उन्होंने मकान के सामने एक हौज बनवाया था। उस हौज मे पानी भरा हुआ था। एक बछिया उस हौज मे गिर गई और तड़फड़ाने लगी। सोहनलाल जी वहा मौजूद थे। उस ने स्वयं अपने मजदूरों की सहायता से उस बछिया को निकाल दिया। कुछ दूसरे लोग जो तेरापथी नहीं थे, वहा खड़े थे। उन्होंने सोहनलाल जी से कहा कि आप के धर्मानुसार तो यह बछिया निकाल देने का कार्य एकान्त पापमय है। सोहनलाल जी ने कहा कि पाप कार्य कैसे हुआ ? मैं ने बछिया को कष्ट तो दिया

ही नहीं, बल्कि कष्ट से बचाया है। क्या किसी दुखी की करुणा भरी चीत्कार सुनकर उसे दुख से छुडा लेना पाप है? सोहनलाल जी के बाप दादा तेरापथी श्रावक थे। इसी से सोहनलाल जी भी तेरापथी श्रावक कहलाते थे। वास्तव मे तेरापथ के सिद्धान्त क्या और कैसे है? यह उन को पता न था। लोगो ने कहा आप हम पर नाराज मत होइये, किन्तु तेरापथ के आचार्य कालुराम यहा ही विराजते है, उन्हीं से जाकर पूछ लीजिए। सोहनलाल जी बरडिया उसी समय श्री कालुराम जी के पास गए। उन्होंने आचार्य से समस्त घटना सुनाई और प्रश्न किया, कि महाराज! केरडी के बचा देने से मुझे पुण्य हुआ या पाप? आचार्य जी ने उत्तर दिया—न धर्म हुआ, न पुण्य किन्तु पाप हुआ।

सोहनलाल जी ने कहा ऐसा क्यों? मैंने उस केरडी को कोई दुख तो दिया ही नहीं फिर मुझे पाप क्यों हुआ?

श्री कालुराम जी ने कहा, कि यह केरडी जिसे तुमने बचाया है, वह खाएगी, पान करेगी जिसमे असख्य जीवों की हिंसा होगी। फिर वह मैथुन का पाप करेगी। उसकी सन्तान होगी। वह भी खाएगी, पान करेगी, और मैथुन आदि पाप करेगी। इस प्रकार उस केरडी के कारण पाप की जो परम्परा चली वह तुम्हें भी लगेगी।

उस दिन सोहनलाल जी को अपने धर्म का असली स्वरूप ज्ञात हुआ। उन्होंने श्री कालुराम जी महाराज से कहा कि आप

अपने धर्म को अपने पास ही रखिए। मुझे आप का यह धर्म नहीं चाहिए। मैं तो अब तक धर्म का यह सार समझा हू —

"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्"

जो अपने आत्मा को बुरा लगता है, वह व्यवहार दूसरा के साथ न करो। अर्थात् दूसरों के साथ भी वह व्यवहार करो जो अपने आत्मा को अच्छा लगता है।

इस के अनुसार यदि मैं पानी मे डूबने लगता तो यही चाहता कि मुझे कोई यहा से बचाले। अनुभव सिद्ध यही बात यह केरड़ी भी चाह रही थी, फिर मैंने उसे बचा दिया तो मैं पाप का भागी कैसे हुआ ? कदाचित् किसी दिन मैं पानी मे डूबने लगू, और कोई आपके सिद्धान्त का अनुसरण करके मुझे न निकाले तो मुझे कितना दु ख होगा।

इसलिए आज से मैं इस तेरापथ सम्प्रदाय को त्यागता हू। मैं किसी धर्म का अनुयायी न रहना तो अच्छा मानू गा, परन्तु तेरापथ का अनुयायी कदापि न रहूगा। उस दिन से सोहनलाल जी ने तेरापथ सम्प्रदाय को सदा के लिए त्याग दिया।

यह कथा जितनी पठनीय है उतनी ही तेरापथियों के लिए अनुकरणीय भी है। अगर तेरापथी इस कथा का अनुसरण करें तो तेरापथ के 'अज्ञ' का उन्हें शीघ्र ही भान हो जाये, और शीघ्र ही सत्यधर्म के स्वरूप को समझ लें, परन्तु वे तो अब तक कट्टरपने मे फसे हुए हैं। उनकी वृत्तिए इतनी दूषित हो चुकी हैं

कि वह किसी साधु, सन्यासी को दान देने में भी एकान्त पाप समझ बैठे हैं। पाप के भय के कारण तो वे आज स्थानक वासी साधुओं को भी आहार देने में एकान्त पाप समझते हैं। कभी २ हमें भी ऐसे अवसर मिल जाते हैं, जहा तेरापथियों के ही आहारार्थ जाना पडता है, परन्तु ऐसा कोई ही तेरापथी होगा जो हमे सहर्ष आहार दे, अधिकतर तो हमे इन के घरों से निराश लौटना पडता है।

तेरापथी मुख से बोलते तक नहीं। इस बात से स्पष्ट है कि उन्हें एसे कार्य मे पाप की परछाई दीखती है, कि इन्हें आहार दिया और हमे पाप चिमटा, कितने तो इसी आशङ्का से दिए हुए आहार को फिर खोस तक भी लेते हैं। अगर खोस न सकें तो पश्चात्ताप करते हैं।

अब आप बताइये जिन के इतने सीमित विचार हैं उन्होंने देश के कल्याणार्थ क्या किया। उनकी सम्पति कब किसी के उद्धार मे लगी। इधर वे भी धर्मी हैं जिन्होंने गरीबों और दीन-दुखियों के लिए अपनी सम्पत्ति खुले हाथों लगा दी। दया के लिए अपने प्राण तक भी उत्सर्जन कर दिए, किन्तु वे तेरापथी नहीं थे वे थे जैन धर्मानुयायी।

महाराज प्रदेशी :—

१ —यह श्वेताम्बिका नगरी के राजा थे। स्वभाव के बडे क्रूर, दुष्ट और निर्दयी थे। उन्होंने एक बार केशीकुमार श्रमण

निर्ग्रन्थ का तात्विक उपदेश सुना, सुनते ही हृदय दीन दु खिया पर किए हुए पाप से काप उठा, पूछ बैठा महाराज ! मैं इन पाप कर्मों से कैसे छूट सकता हू । श्रमण निर्ग्रन्थ ने उत्तर दिया कि रमणीक वन जा । हे राजन अगर तू रमणीक वन गया तो तू अवश्य ही पाप से छूट जायगा । राजा ने सहर्ष उत्तर दिया कि महाराज मैं आज से रमणीक बनता हू । अपने समस्त राज्य के (प्रदेशी का राज्य सात सहस्त्र गामों पर था) चार विभाग करता हू । इन मे से एक विभाग की आमदनी से दानशाला खोलू गा । जिस मे अनेक प्रकार के भोजन पानी तैयार कर के बहुत से दरिद्रों के लिए, साधु सन्यासी और ब्राह्मणों के लिए तथा अनाथ अपाहिजों के लिए स्वय अपने हाथों से वितरण करू गा। उन की हर प्रकार की सेवा सुश्रूपा करू गा । शुद्ध निर्ग्रन्थ धर्म पालन करता हुआ विचरू गा ।

(राजप्रश्नीय सूत्र)

२ —निर्ग्रन्थ धर्म के अनन्य भक्त भगवान् मल्लिनाथ के माता पिता ने पुण्यार्थ दीन अनाथों के लिये दानशाला खोलकर अपनी अथाह सम्पत्ति का सद्व्यय किया था ।

(ज्ञाता सूत्र)

३ —तु गिया नगरी के श्रावक साधु और अनाथ आदि की भिक्षा के लिये घर के द्वार सारे दिन खुले रखते थे ।

(भगवती)

४—तेईस तीर्थङ्करो ने विपुल दीन अनाथादिक को वर्षी दान दिया।

(कल्प सूत्र)

५—लेपगाथापति जो धर्माधर्म जीवाजीव और पुण्य पाप का ज्ञाता था। उसने इतनी बडी उदकशाला (प्याऊ) बनवाई थी, जिसमे सैकडो दरवाजे थे।

(सूयगडाग सूत्र)

ये है दानवीरो की अमर गाथाए। पुनीत इतिहास, पूर्वजों की टेक, प्राचीन सभ्यता और मानव हितैषिणी संस्कृति इसे कहते हैं। आदर्श जीवन, स्पष्ट शब्दों मे ज्वलन्त उदाहरण भी इन्हें ही कहा जा सकता है। देखिए दयालुता की पराकाष्ठा! क्षुद्र से जीवन के लिए शरीर का बलिदान! रक्षा करने का महाप्रण करने वालो का भी जीवन वृत्त पढिये।

६—एक एक मास की घोर तपस्या करने वाले धर्म घोष मुनिराज पारणे के दिन नगर मे गये। भिक्षा के निमित्त वह नाग श्री ब्राह्मणी के भी घर जा पहुंचे। नाग श्री ने मुनि को व्यर्थ सा समझ कर फालतू पडा कडुवा तूम्बा सारा ही दे दिया। मुनि जी ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया और लाकर गुरु के सम्मुख रख दिया। गुरुदेव ने उस शाक को चखा, और मुह से निकाल कर उसे कहीं दूर परठ दिया। उन्होंने कहा कि हे धर्मघोष यह

शाक हलाहल विप है, इसे बाहर शुद्ध भूमि मे गिरा आयो, यह एक दम अभक्ष्य है। अगर इसे खाओगे तो अकाल मे ही मर जाओगे। शिष्य उसी तरह उसे उठाकर बाहर चल पडे, एक ऊचे से आवे पर बैठ कर उस तूम्बे का कण छिटक दिया, और देखते रहे कि इसका परिणाम क्या होता है। इतने ही मे वह सैकडो कीडियो के ढेर लग गए, उस तूम्बे के कण से चिमट गई

हाय हन्त! ये कीडिए सत्य के लिए ही चिमट गई क्या हाय! देखते २ सैकडो कीडिए मौत के घाट उतर गई।

मुनि श्री से देखा न गया। जब एक कण से शतश कीडिय। की जान जा सकती है तो इस सारे तूम्बे के शाक से असख्य ई जाने खत्म हो जावेगी।

ओह! यह शरीर ही किस लिये ह? इस प्रश्न ने धर्मघोप मुनि के अन्तस्तल मे धुक धुकी सी लगा दी। आत्मा ने पुकारा कि यह जीव दया के लिये। लम्पट तथा उच्च ताकिक मन कहने लगा, अरे! हमे इन के मरने का क्या पाप?

गुरु की आज्ञा का पालन करना है। स्थान शुद्ध और प्रासुक ढूढना तो हमारा कर्तव्य है, अगर फिर भी कीडिए मरें तो हमारा क्या दोप?

परन्तु वह दयालु करुणावरुणालय आत्मा उन कीडियो की रक्षा चाहती थी। इन कीडियों की दया के लिए वह विपमय तूम्बे का शाक अपने पेट मे भर लिया। मुख से वह गरल निगल गया

गिराया नहीं, कीडिए न मर् जाए उद्देश्य केवल यही था। उस शाक ने अपने प्रभाव से मुनि का शरीर खण्डश कर दिया। अन्त मे उसका परिणाम यह हुआ कि मुनि जी स्वर्ग सिधार गए। देहत्याग के अनन्तर उन की आत्मा २६ वें देवलोक मे चली गई। पटहनाद हुए, दुदुभि बजी, आखिर सुरासुरराज ने दयाध्वजाभिवादन किया।

सुराङ्गनाओं ने "वन्देमातरम्" गीत गान किए।

(ज्ञाता सूत्र)

७—भगवान् नेमनाथ ने उन रुके हुए पिञ्जरबद्ध पशुओ को छुडवाने के लिए अपने रथ को पीछे मोड दिया, विवाह को तिलाञ्जलि दे दी।

सोऊण तस्स वयण बहुपाणि विणासणम्।
चिन्तेइ स महापन्नो सानुकोसो जिये हिउ॥

[उत्तराध्ययन सूत्र अ० २२ गा० १८]

भगवान् नेमनाथ उन पिञ्जरबद्ध प्राणियों के दयार्द्र वचन सुनकर और अपने विवाहार्थ अनेक जीवों का विनाश देखकर वह महाप्राज्ञ भी चिन्तित हो गए। अन्त मे उन्होंने उन जीवो पर अनुकम्पा करके प्राणदान दिया अर्थात् सारथि ने भगवान् का आशय समझ कर उन प्राणियों को बन्धन मुक्त कर दिया। भगवान् ने उसे इनाम मे आभूषण दिए। विवाह से विरक्त हो गए।

शाक हलाहल विष है, इसे बाहर शुद्ध भूमि मे गिरा आओ, यह एक दम अभक्ष्य है। अगर इसे खाओगे तो अकाल मे ही मर जाओगे। शिष्य उसी तरह उसे उठाकर बाहर चल पडे, एक ऊंचे से आवे पर बैठ कर उस तूम्बे का कण छिटक दिया, और देखते रहे कि इसका परिणाम क्या होता है। इतने ही मे वहा सेकड़ो कीडियो के ढेर लग गए, उस तूम्बे के कण से चिमट गई।

हाय हन्त! वे कीडिए सदा के लिए ही चिमट गई क्या? हाय! देखते २ सैकडो कीडिए मौत के घाट उतर गई।

मुनि श्री से देखा न गया। जब एक कण से शतश कीडिआ की जान जा सकती है तो इस सारे तूम्बे के शाक से असख्य ही जाने खत्म हो जायेगी!

ओह! यह शरीर ही किस लिये है? इस प्रश्न ने धर्मघोष मुनि के अन्तस्तल मे धुक धुकी सी लगा दी। आत्मा ने पुकारा कि यह जीव दया के लिये। लम्पट तथा उच्च तार्किक मन कहने लगा, अरे! हमे इन के मरने का क्या पाप?

गुरु की आज्ञा का पालन करना है। स्थान शुद्ध और प्रासुक ढूढना तो हमारा कर्तव्य है, अगर फिर भी कीडिए मरे तो हमारा क्या दोष?

परन्तु वह दयालु करुणावरुणालय आत्मा उन कीडियो की रक्षा चाहती थी। उन कीडियो की दया के लिए वह विषमय तूम्बे का शाक अपने पेट मे भर लिया। सुख से वह गरल निगल गया

गिराया नहीं, कीड़िए न मर् जाए उद्देश्य केवल यही था। उस शाक ने अपने प्रभाव से मुनि का शरीर खण्डश कर दिया। अन्त मे उसका परिणाम यह हुआ कि मुनि जा स्वर्ग सिधार गए। देहत्याग के अनन्तर उन की आत्मा २६ वें देवलोक मे चली गई। पटहनाद हुए, दुदुंभि बजी, आखिर सुरासुरराज ने दयाध्वजाभिवादन किया।

सुराङ्गनाओं ने "वन्देमातरम्" गीत गान किए।

(ज्ञाता सूत्र)

७—भगवान् नेमनाथ ने उन रुके हुए पिञ्जरबद्ध पशुओं को छुड़वाने के लिए अपने रथ को पीछे मोड़ दिया, विवाह को तिलाञ्जलि दे दी।

सोऊण तस्स वयण बहुपाणि विणासणम्।
चिन्तेइ स महापन्नो सानुक्कोसो जिये हिउ ॥

[उत्तराध्ययन सूत्र अ० २२ गा० १८]

भगवान् नेमनाथ उन पिञ्जरबद्ध प्राणियों के दयार्द्र वचन सुनकर और अपने विवाहार्थ अनेक जीवों का विनाश देखकर वह महाप्राज्ञ भी चिन्तित हो गए। अन्त मे उन्होंने उन जीवो पर अनुकम्पा करके प्राणदान दिया अर्थात् सारथि ने भगवान् का आशय समझ कर उन प्राणियों को बन्धन मुक्त कर दिया। भगवान् ने उसे इनाम मे आभूषण दिए। विवाह से विरक्त हो गए।

पाठकगण । अन्य भी पढ़िए । जैन धर्म के उदार सुपूतों की अमर कथाएं ।

हमारे शासन नायक भगवान महावीर स्वामी ने गोशाले को अनुकम्पा से बचाया था ।

[भगवती सूत्र]

जिसके शासन नायक धर्म प्रवर्तक चोवीसवें तीर्थङ्कर भगवान् अनुकम्पा के भण्डार हों, जिनका उद्देश्य जीवों का संरक्षण करना हो, उनके शिष्य साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, आदि का दयालु बनना, जीवों का बचाना, तो प्रकृतिसिद्ध ही है ।

शायद मुझे आगे भी समय मिले, जबकि मैं दयादान के शास्त्रोक्त ज्वलन्त इतिहास को शृंखलाबद्ध कर पुस्तक के रूप में आपके समक्ष उपस्थित करने का प्रयास करूंगा । आज तो थोड़े में ही मैंने तेरापथी और जैनधर्मियों के आदर्शों को समक्ष रख कर जैन समाज के सामने यह लेख उपस्थित करना है ।

पाठक समझेंगे कि जिनका हमारे से धर्म में ही मतभेद हो जाय, तो उनका मेल हमारे से कैसे सभव है ? जब तक वे अपने हठ झूले में झूलना पसन्द करते रहें ।

मैं जैन समाज तथा तेरापथ के अग्रगण्य नेताओं से इतना तो अवश्य कह कर ही रहूँगा कि इस [illegible] वे अवश्य करें, और [illegible] ति [illegible] इतिहास

मे तुलना तो करके देखें कि तेरापथ और जैनधर्म मे कितना मतभेद है।

क्या मैं उन से सत्यनिर्णय प्राप्त करने की आशा करूँ? निर्णय ठण्डे दिमाग से सजा हुआ होना चाहिये। ऐसा न हो जैसा तेरापथी साधु प्रश्नकर्त्ता श्रावकों को मनघडन्त अटकलों के घुमाव दे कर उत्तर दिया करते है।

प्रश्नकर्त्ता पूछता है, कि महाराज! जीव बचाने मे पुण्य है, पाप, या धर्म? तेरापथी साधु उत्तर दिया करते है, कि तुम जैन हो या अजैन?

क्योंकि अटकलें तो जैन और अजैन के लिए अलग रखी इस लिए सर्वप्रथम उत्तर के स्थान पर प्रश्न किया जाता है।

अगर प्रश्नकर्त्ता अजैन हो, तो उत्तर देंगे कि भाई अगर कोई बचा रहा हो तो हम मनाह नहीं करते।

देखिये कितना ठीक उत्तर है।

प्रश्नकर्त्ता—महाराज! मैं पूछता हूँ जीव बचाने मे पुण्य हुआ या पाप?

महाराज—अरे भाई हम भी तो यही कहते हैं कि जीव बचाने मे लाभ होता है। प्रश्नकर्त्ता समझ जाता है, कि महाराज ने जीव बचाने में लाभ बताया है, अर्थात्, पुण्य।

उसकी शका दूर हो जाती है। उसके चले जाने पर अगर उन्हीं का श्रावक पूछ बैठे, कि महाराज! आपने जीव बचाने मे लाभ बता दिया, यह कैसे?

तो महाराज उत्तर दिया करते है "भाया तू समझे कोई नाहीं" यह ता उत्तर देने की चतुराई है। लाभ तो पुण्य और पाप दोनों का ही होता है। उत्तर का आशय था पाप का लाभ हुआ। अगर प्रश्नकर्ता जैन हो तो उससे पाहले ही प्रश्न का उत्तर यह कहेंगे, कि भाई बता फलाने थोकडे का इतना बोल कौनसा है। श्रावक सोचने और बताने मे असमर्थ सा दिखाई देता है। आस पास के तेरापथी श्रावक होहल्ला मचा देते हैं, अरे! इतनी भी बात नहीं आती। सिद्धान्त के विषय मे बात पूछने चले आए।

श्रावक शर्मिन्दा हो जाता है, बात समाप्त हो जाती है।

पाठक गण! जरा सोचने की बात है, कि उन से प्रश्न तो जीव बचाने का फल पुण्य पाप पूछने का था। अत उत्तर भी इसी बात का होना चाहिये था, अर्थात् पुण्य हुआ या पाप, किन्तु वे उत्तर दें भी कैसे पुण्य कहना नहीं, पाप कहने मे बदनामी होती है। इसलिये सीधा स्पष्ट उत्तर न देकर कपट पूर्ण आडा टेढा निर्णय देकर अपने अन्ध श्रद्धालु भक्तों को अपनी बाडा बन्दी मजबूत करने का प्रयत्न किया जाता है।

ऐसा निर्णय मुझे नहीं चाहिये निर्णय न्याय युक्त होना चाहिए।

—:*:—

समय की पुकार

तेरापथ ने पौने दो सौ वर्षो मे जैन समाज के टुकडे टुकडे कर दिए है। आज भी वह सर्वत्र "फूट का जाल पावो" और लूट का माल खावो, वाली नीति का अनुसरण कर रहा है।

समाज का शोषण करना, निर्बलता कूट कूट कर भरना, उसने अपना दैनिक कार्य क्रम सा बना लिया है।

आज उसने दया दान मे पाप समझाने का और केवल हमे देने मे पुण्य बताने का नियम सा ले लिया है।

समाज सगठन तुडवाना, भाई का भाई से मुँह मुडवाना, ही तेरापथ ने अपना सिद्धान्त घड लिया है।

अगर आज से ही हमारी समाज इस समाज हानि का विचार न करेगी तो ठीक समझिए कि यह भावी विनाश और तबाही के चक्कर मे फसेगी।

बेशक जैन समाज उदार है, सहिष्णु है, वह उसकी छाती

पर मूग दलने वालो को भी क्षमा करती आई है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगा लेना चाहिए, कि यह अत्याचार भी सह लेगी। इस पर चाहे कोई कितने ही जुल्म ढाता चला जाए यह उसका प्रतिकार न करेगी ?

यह समझ कर मन मानी ढाल चौपाइया सी बनाकर उसे फुसलाना, इसका परिणाम वह होगा जो शेर को जगाने से होता है।

तेरापथ समाज आज जैन समाज के सपूतों को व्यर्थ के अडगे के झासे से लिए फिर रहा है यह कभी नहीं होने दिया जायगा।

हा यह हो सकता है, कि तेरापथ अपनी भूलो पर पश्चात्ताप के आसु गिरा कर जैन समाज से क्षमा माग ले तो समाज अवश्य ही – क्षमावीरस्य भूषणम्, का आदर्श सम्मुख रख कर क्षमा की भिक्षा दे दे।

अगर तेरापथ ने इस मेरे नम्र निवेदन को मान लिया तो अच्छा। अगर उन्होने अब भी अपना जाल फैलाना चाहा तो यह उनकी इतनी बड़ी भूल होगी, जो शायद इतिहास की ऐतिहासिक भूलों मे अग्रस्थान ग्रहण करे।

अगर ससार मे जुल्म करने वाले जालिम का प्रतिकार न किया गया तो ससार अन्याय का घर बन जावेगा। अत आज भी समाज ने इस अत्याचार का कुछ प्रतिकार न किया तो मैं

कहूगा, कि वह समाज कायर है, बल हीन है, नपु सक है, जो शासनपति श्रमण नायक भगवान् महावीर के विषय में घृणित शब्द सुनकर भी प्रतिकारार्थ न उठ सका, तो समाज सदियों तक नहीं उठ सकेगा। इतने मे उसे बडे बडे मगरमच्छ हडप भी कर चुके होंगे।

वह नवयुवक नहीं जो अपनी आँखों से अपने प्राणों से भी प्यारे धर्म का अपमान देखता है। वह जीवन नहीं मृतक कलेवर है, जो शास्त्रों के अनर्थ रूप तिरस्कार की घू ट पीता है। वह दिल नहीं जो भगवान् के विरुद्ध बोलने वाले का दु साहस सहन कर लेता है। भगवान् का वह सच्चा श्रमण नहीं जो इन आक्रमण कारियों को देखकर भी आखें मून्द लेता है।

अयि! भगवान् के सच्चे श्री सघ! समझ ले, उठ, अगर तू अब भी न उठ सका तो सदा को लिए तुझे मृतप्राय सा बनना पडेगा।

ऐ समाज के जैन वीरो! तुम्ही उठ खडो कुछ करके दिखाओ। अगर तू ने भी करवट न ली तो समझलो।

"अगर अब भी न समझोगे तो मिट जाओगे दुनिया से।
तुम्हारी दास्ता तक भी न होगी दास्तानों मे॥

जहा भगवान् महावीर ने आध्यात्मिक सघर्ष का दु दुभिनाद बजा कर मिथ्यात्व भरी शक्तियों को पराजित कर डाला था।

गौतम जैसे धुरन्धर जो ससार भर के पण्डितो का विजेता अपने आपको मानता था। उसने भी भगवान् के आध्यात्मिक बल के आगे कुछ क्षणों मे ही घुटने टेक दिए थे। उस पूज्य महावीर की सन्तान कैसे पीछे हट जाएगी। तेरापथ अपने सिद्धान्त जैन धर्म के विरुद्ध बना तो बैठा है किन्तु आज उसे सिद्ध करने के लिए उनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है। आज इक्कीसवीं सदी है, इसलिए तेरापथ जैन शास्त्रो के अर्थो का अनर्थ करके समाज को धोके मे फसाना चाहता है, किन्तु उसे समझ लेना चाहिए, कि समाज आज जाग चुका है। जैन सस्कृति ने फिर से करवट ली है। आज वह उसे बदनाम करने वाले कलङ्को का प्रतिकार करने के लिए लालायित है।

आज उसका खिलता हुआ यौवन ससार भर पर छा जाना है, जिसे कोई रोक न सकेगा। जैन समाज ने अनेक प्रकार की मनोवृत्तियो का विशाल अध्ययन किया है। अनेक बार उसने धर्म सघर्ष की विजय माला अपने गले मे सुशोभित की है। असख्य प्रकार के हिंसक विश्लेषणों को उसने कागज की रद्दी की टोकरी मे फैंका है।

तेरापंथ की तो बात ही क्या है। यह तो वैसे ही स्वार्थ से कूट कूट कर भर रक्खा है। इसे तो एक अनजान या हठी व्यक्ति के सिवा कोई सद् बुद्धि मानने के लिए तैयार ही नहीं।

आज का ससार तो एक मात्र सच्ची अहिंसा का पुजारी

बनना चाहता है। वह फिर से सहानुभूति, प्रेम, करुणा, दया, अनुकम्पा और वात्सल्य का दरया बहाना चाहता है। बेशक इसके लिए श्रमण संघ को क्रान्ति मचानी होगी, परन्तु हम उस क्रान्ति में खेलना चाहते हैं जिसमें समाज,सिद्धान्त और तात्त्विक ज्ञान निखरा करता है। हमारा नव मुनि मण्डल एक-एक से निहार रहा है। कब हमें अहिंसा के प्रचार का नाद सुनाई दे और हम तभी प्रतिकारार्थ प्रयाण कर दें।

हम इनके जड़त्व को दूर कर चेतनत्व का जादू भर दें। आज हमने फिर पुरातन काल का स्मरण कर स्वर्ण युग बनाना है,शांति और दया का सच्चा साम्राज्य स्थापित करना है।

साधुता का विडम्बन जैन धर्म पर लगाए जाने वाले कलङ्क को सदा के लिए मिटाना है।

ओ मेरे नवयुवक श्रमण साथिओ! अब समय है। संसार तुम्हारी ओर देख रहा है। उसकी आखों में लालसा है। वह स्वार्थ की आग से दुःखी हो रहा है।

हम अनुकम्पा करके ही उसका दुःख दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न करें।

विशेष कर इन स्वार्थियों के विपाक्त भाषण से बागड देश धर्म से पतित हो चुका है। उसके लिए हमें फिर से आन्दोलन करना चाहिये, और यह पञ्जाब का दौरा तो इनका ऐसे समाप्त

हो जाएगा, जैसे बादलों की छाया।

हां इसके लिए हमें क्रान्तिकारी बनना चाहिए। क्रांति ही संसार में सबसे महत्व की वस्तु है। अब समय है, शुभअवसर है। नहीं तो —

फिर पछताए क्या होत है, जब चिडिया चुग गई खेत॥

ॐ शान्ति! [illegible]!! शान्ति!!!

[illegible]

[illegible]

卐